पंजीयन संख्या : 68939/98

ज्ञान तत्व

सत्यता एवं निष्पक्षता का निर्भीक पाक्षिक

NOV 2025

अंक - 21

483

विचार और साहित्य 3

साहित्यकारों का नाटक या नाटककारों का साहित्य 4

प्रकाशन की तिथि - 15-11-2025 पोस्ट की तिथि - 30-11-2025

सिंहावलोकन

6 **प्रश्नोत्तर**

9 **नई समाज व्यवस्था**

12 **शराब व सेक्स पर दमनात्मक कानूनों की समाप्ति**

15 **जूम कार्यक्रम का सारांश**

साथियों की कलम से....

17 **ज्ञानेन्द्र आर्य: यायावर चेतना का साधक-नरेंद्र सिंह**

18 **जीवन पथ**

पत्र व्यवहार का पता

बजरंग लाल अग्रवाल पोस्ट बाक्स 15, रायपुर (छ.ग.) 492021

website : margdarshak.info

प्रकाशक, संपादक व स्वामी - बजरंगलाल

9617079344

mail : Support@margdarshak.info

मुख्य कार्यालय-
ज्ञानयज्ञ परिवार आश्रम
रामानुजगंज छत्तीसगढ़ 497220
8318621282, 9630766001

लोक स्वराज अभियान
303 कृष्णा शिप्रा अजूरा अपार्टमेंट कौशांबी
गाजियाबाद 201012
9325683604, 9012432074

प्रधान संपादक
बजरंग लाल अग्रवाल
(बजरंग मुनि)

संपादक मण्डल
नरेन्द्र सिंह
संजय तिवारी
विपुल आदर्श

सहयोगी संपादक
ज्ञानेन्द्र आर्य

सदस्यता नियमन
संजय गुप्ता 872669477
कुशल दुबे 7999934238

सज्जा
लाल बाबू रवि

वितरण एवं मुद्रण सहयोग
रबीन्द्र विश्वास

ज्ञान केन्द्र विचार, समन्वय और परिवर्तन के तीर्थ

विचार और साहित्य

बजरंग मुनि
प्रधान संपादक

साहित्य और विचार एक-दूसरे के पूरक होते हैं। एक के अभाव में दूसरे की शक्ति का प्रभाव नहीं होता। विचार तत्व होता है, मंथन का परिणाम होता है, मस्तिष्क-ग्राह्य होता है, तो साहित्य विचारक के निष्कर्षों को आधार बनाता है। मंथन का अभाव होता है, हृदय-ग्राह्य है, कला प्रधान होता है। विचार घी है तो साहित्य मट्ठा, विचार लंगड़ा है तो साहित्य अंधा। बिना साहित्य के विचार की स्थिति एक वस्त्रहीन नारी के समान है और बिना विचार के साहित्य वस्त्र-आलंकृत मिट्टी की मूर्ति। दोनों का प्रभाव एक साथ जोड़कर ही हो सकता है। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो विचार और साहित्य किसी एक ही व्यक्ति में पूरा नहीं पाया जाता। किसी भी व्यक्ति में साहित्य या विचार में से कोई एक अधिक होता है तो दूसरा कम। विचारकों द्वारा गंभीर विचार-मंथन के बाद निकाले हुए निष्कर्ष को समाज तक पहुँचाने का दायित्व साहित्यकार का है। इस तरह विचार फल का बीज है और साहित्य पेड़। साहित्य अपने परिणाम समाज में इस प्रकार देता है कि वह परिणाम अंत में विचार तक पहुँच जाए। न तो साहित्य के अभाव में विचारक का विचार समाज तक पहुँच पाता है, न ही विचारों के अभाव में साहित्य अंत में समाज में विचार का स्वरूप ग्रहण कर पाता है। साहित्य और समाज एक-दूसरे के पूरक होते हैं। साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है। यदि साहित्य में कोई विकृति दिखती है तो वह समाज की विकृति है, साहित्य की नहीं, क्योंकि साहित्य तो समाज का दर्पण होता है जो समाज के चेहरे को स्पष्ट मात्र करता है। दूसरी ओर ऐसा भी माना जाता है कि साहित्य ही समाज के स्वरूप का निर्माण करता है। साहित्य वह कारीगर है जो समाज-रूपी मूर्ति को निरंतर काट-छाँटकर उसे समझने योग्य स्वरूप देने में लगा रहता है। इन दोनों ही सिद्धांतों की मान्यता है, भले ही इनके अर्थ भिन्न-भिन्न ही क्यों न हों।

साहित्य पर विचारों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है तथा सामाजिक मान्यताओं का भी। साहित्यकार कभी-कभी महत्वपूर्ण विचारों से प्रभावित होकर साहित्य की रचना करता है, तो कभी-कभी सामाजिक मान्यताओं से प्रभावित होकर, भले ही ऐसी मान्यताएँ या ऐसे विचार विकृत-ग्रस्त ही क्यों न हों। वर्तमान समय में भारत में सभी सामाजिक इकाइयों का अधःपतन हुआ है। साहित्य भी इस अधःपतन से अछूता नहीं है। साहित्य में भी वैसी ही गिरावट आई है। आदर्श स्थिति वह होती है जब विचारक और साहित्यकार दोनों ही स्वतंत्र हों, बीच की स्थिति वह होती है जब विचारक और साहित्यकार दोनों स्वेच्छा से किसी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध हो जाएँ, और सबसे बुरी स्थिति वह होती है जब विचारधाराएँ अपने-अपने स्वार्थ के आधार पर विचारक और साहित्यकार तैयार करने लगें तथा ऐसे साहित्यकार चारण या भाट के रूप में उन विचारधाराओं का गुणगान करने पर उतर आएँ। वर्तमान समय में समाज में विचारकों का अभाव हो गया है, मंथन प्रक्रिया मृतप्राय है, निष्कर्ष नहीं निकल रहे हैं, राजनेता या संगठन प्रमुख ही विचारक बन बैठे हैं। ये राजनेता जो निष्कर्ष निकालते हैं वही साहित्यकार के लिए विचार बन जाता है और साहित्यकार उसे निष्कर्ष मानकर पूरी ईमानदारी से समाज तक पहुँचा देता है। उक्त विचार न तो निष्कर्ष होता है न ही मंथन प्रक्रिया, अतः ऐसे संगठनों द्वारा निकाले गए निष्कर्ष साहित्यकारों द्वारा समाज तक पहुँचाने के बाद भी परिणाम शून्य या विपरीत ही होते हैं। राजनेता या धर्मगुरु दिल्ली से दहेज चिल्लाते हैं, तो साहित्यकार भी दहेज ही दहेज को समस्या के रूप में समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। जब राजनेता महँगाई, गरीबी, महिला अत्याचार का हल्ला करते हैं तब भी साहित्यकार इन मुद्दों को समाज तक पहुँचाने में देर नहीं करता, जबकि स्वतंत्र विचारकों के विचार-मंथन के बाद पाया गया कि महँगाई, गरीबी, महिला अत्याचार, दहेज, शिक्षित बेरोजगारी जैसी समस्याएँ पूरी तरह अस्तित्वहीन हैं, किन्तु साहित्य ने उसे इस तरह समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है कि पूरा समाज इन अस्तित्वहीन समस्याओं से भी स्वयं को पीड़ित अनुभव करता है। इसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर वर्ग-संघर्ष के रूप में दिख रहा है। दोष तो यह है कि विचारकों के अभाव में राजनेता ही विचारक बन बैठे हैं। तीसरी तरह के साहित्यकार भी समाज की समस्याएँ नहीं हैं क्योंकि सब लोग उन्हें व्यक्ति-पूजक चारण या भाट जानते हैं और मानते भी हैं। ऐसे घोषित प्रतिबद्ध साहित्यकारों तथा विचारकों का समाज पर विशेष प्रभाव नहीं होता। किन्तु दूसरे तरह के साहित्यकार बहुत घातक प्रभाव छोड़ रहे हैं। ये लोग स्वतंत्र न होकर किसी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध होते हैं। साहित्यकारों में कई लोग मूल रूप से साहित्यकार नहीं होते, बल्कि संस्थाएँ ऐसे लोगों की पहचान करके उन्हें दीक्षित करती हैं और धीरे-धीरे साहित्य के क्षेत्र में स्थापित कर देती हैं। कई विदेशी एजेंट भी ऐसे प्रतिबद्ध लोगों को अंतर्राष्ट्रीय सम्मान देकर उन्हें और बड़ी पहचान दिलाते हैं। ये लोग साहित्य के लिए विचारों का चयन नहीं कर पाते, बल्कि साहित्य की विधा का अपने लिए उपयोग करते हैं। प्राचीन काल में ऐसी समस्या यदा-कदा ही होती थी, किन्तु वामपंथ ने इसका भरपूर उपयोग किया। वामपंथ ने साहित्यकारों के गुट खड़े कर लिए। साहित्यकार की स्वतंत्रता पूरी तरह प्रतिबद्ध हो गई। इन साहित्यकारों ने ऐसा ताना-बाना बुना कि धर्मनिरपेक्षता, अमेरिका-विरोध आदि विचार इनके बंधक

बन गए। ये वामपंथी साहित्यकार धीरे-धीरे साहित्य पर इस प्रकार छा गए कि स्वतंत्र साहित्य तो दिखना ही बंद हो गया, और धीरे-धीरे दक्षिणपंथी साहित्यकारों ने भी वही मार्ग चुना है। अब संस्कृति और राष्ट्रीयता शब्द इनके गुलाम बन गए हैं। किसी बात को किसी भी तरह तोड़-मरोड़कर संघ परिवार के पक्ष में स्थापित करना इनकी साहित्य-कला मानी जा रही है। भारत का साहित्यिक परिवेश दो विचारधाराओं के साहित्य युद्ध में फँस गया है। अब तक जिस तरह साहित्य पर वामपंथियों का कब्जा रहा, किन्तु प्रारंभ में महाश्वेता देवी को नारंग जी के माध्यम से चुनाव में हराकर दक्षिणपंथ ने वामपंथी साहित्य को चुनौती दी तथा अब जे.एन.यू. टकराव के माध्यम से हार-जीत का खेल चल रहा है वह न साहित्य के लिए शुभ लक्षण है, न विचारों के लिए। स्वतंत्र साहित्यकार को किसी राजनीतिक, धार्मिक विचारधारा मात्र का गुलाम नहीं होना चाहिए। वामपंथ पूरी तरह राजनीतिक उद्देश्यों के लिए साहित्य का उपयोग कर रहा है। दक्षिणपंथ भी अब संघ परिवार के राजनीतिक उद्देश्यों के लिए समर्पित है। नए-नए शोध, नए-नए निष्कर्षों को समाज तक पहुँचाने के लिए स्वतंत्र साहित्यकार कहाँ मिलेंगे? क्या अब नए विचार इसलिए समाज से बाहर हो जाएँगे कि उसे स्थापित करने के लिए उसके साथ स्वतंत्र साहित्यकारों का अभाव है? आज की जो स्थिति है, इसके लिए वामपंथी दोषी हैं कि दक्षिणपंथी, यह मेरी चिंता का विषय नहीं है; मेरी चिंता तो यह है कि स्वतंत्रता कहाँ जाकर पैर जमा सकेगी। मैं चाहता हूँ कि साहित्य समाज में विचारों का संवाहक बने और रहे, किन्तु वह किसी पेशेवर दुकान का ट्रेडमार्क बनने से बचे, अन्यथा साहित्य भी उसी तरह दलदल में फँस जाएगा जिस तरह धर्मनिरपेक्षता या भारतीय संस्कृति। पिछले कई सौ वर्षों से भारत में विचार-मंथन का स्तर लगातार नीचे जा रहा है। नए, स्वतंत्र और गंभीर विचारक निकल नहीं पा रहे हैं। और यदि अपवादस्वरूप कोई निकलता भी है तो उसका स्तर पिछले विचारकों की तुलना में बहुत कमजोर होता है, क्योंकि न तो ऐसे विचारकों को साहित्य का कोई सहारा मिल पाता है, न ही समाज का। प्रतिबद्ध संगठन ऐसे गंभीर विचारकों के प्राथमिक लक्षण दिखते ही उन्हें अपना पिछलग्गू बनाने के लिए येन-केन-प्रकारेण प्रयासरत हो जाते हैं। स्थिति निराशाजनक है। फिर भी पिछले कुछ वर्षों से कुछ अप्रतिबद्ध विचारक सोशल मीडिया तथा अन्य माध्यमों से स्वतंत्र विचार के क्षेत्र में आगे बढ़ने का प्रयास कर रहे हैं। यद्यपि कभी-कभी ऐसा दिखता है कि ऐसे स्वतंत्र विचारों को प्रतिबद्ध वामपंथी या दक्षिणपंथी साहित्यकारों का विरोध भी झेलना पड़ता है, किन्तु सामाजिक जागरूकता ऐसे स्वतंत्र विचारों को धीरे-धीरे आगे बढ़ा रही है। निराश होने की कोई बात नहीं है। फिर से विचारकों का स्तर और प्रभाव बढ़ेगा। साहित्य ऐसे स्वतंत्र विचारों को आगे बढ़ाएगा, और समाज का अध:पतन रुककर उत्थान की दिशा में जाएगा।

साहित्यकारों का नाटक या नाटककारों का साहित्य

साहित्य विचारों की कब्र होता है। साहित्य विचारों को कब्र में पहुँचाकर लम्बे समय तक के लिये सुरक्षित रखता है। दूसरी ओर साहित्य विचारों को देश-काल-परिस्थिति के आधार पर होने वाले नये-नये संशोधनों से भी दूर कर देता है। विचार व्यक्ति के ज्ञान का विस्तार करता है तो साहित्य भावना का। दोनों का प्रभाव समाज पर अलग-अलग होता है। विचारक चाहे जितना गंभीर निष्कर्ष निकाल ले, किन्तु जब तक उसे साहित्य का सहारा नहीं मिलता तब तक वह आगे नहीं बढ़ पाता। या तो वह वहीं पड़ा-पड़ा सड़ जाता है या साहित्य से संयोग की प्रतीक्षा करता रहता है। इसी तरह साहित्य को जब तक विचार न मिले, तब तक वह निष्प्राण, निष्प्रभावी प्रदर्शन मात्र करता रहता है। विचार-विहीन साहित्य एक मृत शरीर है जो आत्मा के अभाव में समाज के लिये घातक प्रभाव डालना शुरू कर देता है। ऐसा साहित्य विचारों के अभाव में प्रचार से प्रभावित हो जाता है तथा असत्य को ही समाज में सत्य के समान स्थापित कर देता है। वर्तमान समय में लगभग यही हो रहा है। यह स्थिति भारत की ही नहीं है, बल्कि सारे विश्व की है।

यदि किसी अपवाद को छोड़ दें, तो साहित्यकार और विचारक भी अलग-अलग ही होते हैं। न कोई विचारक साहित्य से शून्य होता है, न कोई साहित्यकार विचार से। किन्तु साहित्यकार और विचारक में कोई एक गुण प्रधान होता है और दूसरा आंशिक। प्रधान गुण ही उसे विचारक या साहित्यकार होने की पहचान दिलाता है। विचारक को अधिकतम सम्मान तथा न्यूनतम सुविधाएँ मिलती हैं, जबकि साहित्यकार को सामान्य सम्मान तथा सामान्य सुविधाएँ। विचारक आमतौर पर व्यावसायिक मार्ग में नहीं जा पाता, जबकि साहित्यकार आम तौर पर व्यावसायिक दिशा में बढ़ता है। विचारक का मुख्य लक्ष्य सामाजिक होता है और व्यक्तिगत या पारिवारिक सहायक लक्ष्य। साहित्यकार का मुख्य लक्ष्य व्यक्तिगत या पारिवारिक होता है और सामाजिक लक्ष्य सहायक। विचार कई प्रकार के होते हैं जिनमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि हैं। साहित्यकार भी कई तरह के हैं जिनमें नाटककार, कलाकार, कथाकार, व्यंग्यकार आदि होते हैं। कथाकार भी विचारक न होकर साहित्यकार की ही श्रेणी में होते हैं क्योंकि कथाकार आम तौर पर कला का उपयोग करते हैं। जो भी व्यक्ति काल्पनिक कहानी को

सत्य के समान स्थापित करे, वह विचारक नहीं हो सकता। जो भी व्यक्ति श्रोताओं को जनहित की जगह जनप्रिय भाषा का उपयोग करके मोहित कर ले वह विचारक नहीं हो सकता।

गांधी एक विचारक थे जिनके निष्कर्षों को अनेक कलाकारों, साहित्यकारों, कवियों, नाटककारों ने समाज में दूर-दूर तक पहुँचाया। जयप्रकाश, अन्ना हजारे आदि को भी हम ऐसे मौलिक चिन्तक के रूप में गिन सकते हैं। राममनोहर लोहिया, मधुलिमये, दीनदयाल उपाध्याय, अटल बिहारी वाजपेयी आदि को भी हम आंशिक रूप से इस लाइन में जोड़ सकते हैं। यद्यपि इनमें मौलिक विचार के साथ-साथ कुछ-कुछ साहित्यिक क्षमता भी थी। अन्य भी अनेक लोग विचारक के रूप में रहे, किन्तु उन्हें साहित्यकारों-कलाकारों का सहारा नहीं मिलने से वे अप्रकाशित ही रहे। धीरे-धीरे स्थिति यह आई कि मौलिक चिन्तन का अभाव हुआ और साहित्यकारों-कलाकारों की बाढ़ आनी शुरू हुई। साहित्यकार, कलाकार, कथाकार, नाटककार ही स्वयं को विचारक घोषित करने लगे और समाज भी उन्हें विचारक मानने की भूल करने लगा। इन सबमें मौलिक चिन्तन करने और निष्कर्ष निकालने की क्षमता तो थी नहीं और कला के माध्यम से विचार समाज तक पहुँचाना इनकी मजबूरी थी। अतः वास्तविक विचार और विचारकों के अभाव में इन सबने राजनेताओं के ही विचारों और निष्कर्षों को अपनी कला के माध्यम से समाज तक पहुँचाना शुरू कर दिया। कितनी बचकानी बात है कि राजनेताओं ने दहेज, आबादी वृद्धि, महिला अत्याचार, कन्या भ्रूण हत्या, महँगाई जैसे अस्तित्वहीन, अप्राथमिक अथवा अल्प-प्राथमिक मुद्दों को सर्वोच्च प्राथमिक बोल दिया और साहित्यकारों, कलाकारों ने पूरी ईमानदारी से इन मुद्दों को समाज के सामने सर्वोच्च प्राथमिकता के रूप में स्थापित कर दिया। आज देश के किसी अच्छे से अच्छे स्थापित विचारक की भी हिम्मत नहीं कि वह इन विषयों पर अपने अलग विचार रख सके। यहाँ तक कि पूर्व वित्त मंत्री चिदम्बरम, गृहमंत्री शिंदे, स्वयं प्रधानमंत्री या वित्त मंत्री अरुण जेटली भी इन मुद्दों पर आंशिक यथार्थ भी बोल दें तो पूरा देश एकदम से ऐसी बातों के खिलाफ उबल उठता है। ये सारे असत्य सत्य के समान स्थापित हो गये हैं और यदि किसी गंभीर विचारक ने चपटी सिद्ध पृथ्वी को गोल कहने का दुस्साहस किया तो या तो उसे स्थापना के पहले फाँसी पर चढ़ने को तैयार रहना होगा या अपना निष्कर्ष बदलने को मजबूर होना पड़ेगा। कलाकारों, साहित्यकारों की इस जमात को इसके बदले में राजनेता या सरकारें विभिन्न पुरस्कार तथा अलंकरण देकर पुरस्कृत, सम्मानित तथा उपकृत भी करती रहती हैं। दोनों का अपना-अपना उद्देश्य पूरा हो जाता है और विचारक का विचार किसी कोने में पड़ा आँसू बहाता रहता है।

विचार तो पूरी तरह स्वतंत्र होता है। न तो विचार कभी प्रतिबद्ध हो सकता है न होता है। वैसे तो साहित्यकार भी नैतिक रूप में स्वतंत्र ही होता है और यदि कोई कवि या लेखक विचार-प्रतिबद्ध न होकर सत्ता-प्रतिबद्ध हो जाता है तो वह चारण या भाट तो कहा जा सकता है किन्तु साहित्यकार नहीं। किन्तु आज साहित्यकार तो प्रतिबद्ध दिखने ही लगे हैं। और चूँकि विचारकों के अभाव में साहित्यकार ही विचारक बन रहे हैं, इसलिये प्रतिबद्धता विचारकों तक को निगल गई है। प्रतिबद्धता की बीमारी वामपंथ से शुरू हुई। वामपंथियों ने अपनी आवश्यकता अनुसार लेखक, साहित्यकार, कवि, नाटककार तैयार किये, बढ़ाया, स्थापित किया तथा उपयोग किया। प्रगतिशील लेखक संघ आदि के नाम से ऐसे ही प्रतिबद्ध संगठन खड़े किये गये जो हमेशा-हमेशा के लिये गुलाम होते हुए भी स्वयं को स्वतंत्र कहते रहे। इन सबके संगठन बने जो एक-दूसरे के साथ जुड़कर काम करते रहे। ऐसे प्रतिबद्ध साहित्य के बढ़ते प्रभाव की सफलता से आतंकित संघ परिवार ने भी अपने प्रतिबद्ध साहित्यकार बनाना शुरू किया किन्तु बाद में। आज वामपंथी प्रतिबद्ध साहित्य समाज में मजबूत तो है किन्तु उसे संघ साहित्य से भी कड़ी चुनौती मिल रही है।

मीडिया और साहित्य का भी चोली-दामन का संबंध होता है। मीडिया समाज का सूचना तंत्र भी होता है तथा साहित्य का संवाहक भी। मीडिया भी आमतौर पर स्वतंत्र होता है और मीडिया की इसी स्वतंत्रता ने उसे लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहना शुरू किया। मीडिया आज भी प्रतिबद्धता की बीमारी से तो कुछ-कुछ बचा हुआ है। प्रगतिशील मीडिया अथवा संघ का मीडिया जैसे आरोप नहीं के बराबर हैं, किन्तु लोकतंत्र का चौथा स्तंभ बनते-बनते मीडिया भी वास्तव में चौथा स्तंभ ही बन बैठा है। पेड न्यूज कोई विशेष बात न होकर आम बात हो गई है। मीडिया का व्यावसायिक होना उसकी मजबूरी भी है। जब समाज सेवा के बोर्ड लगातार एन.जी.ओ. व्यावसायिक हो सकते हैं, राजनीति व्यावसायिक हो सकती है, तो मीडिया बच कैसे सकता है, क्योंकि मीडिया का कार्य तो वैसे भी अर्ध-व्यावसायिक होने से उसे आर्थिक रूप से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। जब राजनीति और समाज सेवा जैसे अव्यावसायिक क्षेत्र ही व्यावसायिक हो गये तो मीडिया को कैसे दोष दे सकते हैं। ये पेड न्यूज अथवा जस्टिस काटजू की चिंताएँ उचित होते हुए भी अनावश्यक हैं। जब तक समाज सेवा और राजनीति का व्यवसायीकरण नहीं रुकता तब तक मीडिया को दोष देना ठीक नहीं क्योंकि वह तो लोकतंत्र का चौथा स्तंभ है। विचारक कभी किसी विचार से प्रतिबद्ध नहीं होता। वह इतिहास तथा भूतकाल से मार्गदर्शन लेता है और हमेशा वर्तमान में सोचता है। विचारक वैज्ञानिक होता है, अनुसंधानकर्ता होता है तथा हमेशा निष्कर्ष निकालने में लगा रहता है। विचारक कभी मृत महापुरुषों के विचार बिना स्वयं शोध किये अक्षरशः

अनुकरण नहीं करता। कोई भी विचारक कभी संगठन का सदस्य नहीं होता, चाहे वह विचारकों का ही संगठन क्यों न हो। पिछले 67 वर्षों से किसी मृत महापुरुष के विचारों को आदर्श मानकर साहित्यकारों ने उसका अंधानुकरण किया, क्योंकि उसे राज्याश्रय प्राप्त था। उस समय किसी दूसरे भिन्न मृत महापुरुष के विचारों को आगे बढ़ने से लगातार रोका गया। चूँकि 67 वर्षों तक स्थापित साहित्य के विरुद्ध दूसरे साहित्य को मान्यता मिली और उक्त भिन्न विचार बढ़ते-बढ़ते राज्याश्रय तक पहुँच गया, तो मैं नहीं समझता कि इतनी जल्दी साहित्यकारों, कलाकारों, प्रच्छन्न विचारकों या तथाकथित वैज्ञानिकों को निराश होकर धैर्य क्यों छोड़ना चाहिए? दो भिन्न-भिन्न प्रतिबद्धताएँ यदि मैदान में साहित्यकार के रूप में एक-दूसरे से टकरा रही हैं तो उसमें किसी एक को रोने-धोने का क्या औचित्य है? क्या आपके साहित्य में वह यथार्थ नहीं था, जो 67 वर्षों तक राज्याश्रय पाने के बाद भी अमर नहीं हो सका? क्या आप इस प्रकार राज्याश्रय पर जीवित थे कि कुछ वर्ष में ही विधवा-विलाप सरीखा रोने लग गये? यदि किसी अन्य प्रतिबद्ध साहित्य ने 67वर्षों के बाद आपको किनारे किया है, तो आप एक वर्ष में ही अपनी संभावित मृत्यु से इतने पीड़ित क्यों होने लगे? मैंने तो बहुत खोजा किन्तु मुझे चिल्लाने और रोने-धोने वाले साहित्यकारों, कलाकारों में से एक भी ऐसा नहीं लगा,

प्रश्नोत्तर

प्रश्न-1 विचारक और साहित्यकार के बीच ऐसी क्या पहचान है जो सामान्य नागरिक आसानी से समझ सके? प्रतिबद्ध या नकली विचारक और साहित्यकार की भी पहचान है क्या?

उत्तर- मैंने इन प्रश्नों पर विचार किया। विचारक भी कई प्रकार के होते हैं। ये धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय या वैश्विक स्तर तक की सीमा के हो सकते हैं। इसी तरह साहित्यकार भी कलाकार, नाटककार, लेखक, प्रवचनकर्ता, कवि आदि कई तरह के हो सकते हैं। यदि कोई विचारक स्वतंत्र होगा तो उसकी नीयत कभी खराब नहीं होती। इसी तरह स्वतंत्र कलाकार की भी नीयत पर कभी संदेह नहीं हो सकता। किन्तु नीयत का आकलन सामान्य नागरिक आसानी से नहीं कर सकता, इसलिये कुछ अन्य पहचान बता रहा हूँ।

(1) विचारक जब भी कुछ बोलता है तो कभी विस्तार से न बोलकर बहुत संक्षिप्त बोलता है तथा सूत्र रूप में बोलता है जबकि साहित्यकार बहुत अधिक विस्तार से बोलता है।

(2) विचारक बोलते समय अपने हाथ-पैर नहीं हिलाता। बोलते समय उसके चेहरे के हाव-भाव भी कभी नहीं बदलते। विचारक कभी अपने कथन की पुष्टि के लिये किसी तरह का दायें-बायें देखना या अन्य शारीरिक क्रिया का सहारा नहीं लेता जबकि कलाकार, साहित्यकार या नेता हाथ-पैर से लेकर चेहरे के भाव तक में शारीरिक रूप से बहुत अधिक सक्रिय रहता है।

(3) विचारक आमतौर पर अपने विचार ही बताता है। पुराने विद्वानों के निष्कर्षों के उद्धरण या उदाहरण यदा-कदा ही देता है, आमतौर पर नहीं। साहित्यकार भारतीय या विदेशी विद्वानों के कथन को उदाहरण स्वरूप आमतौर पर बोलता है। जो व्यक्ति गांधी, चाणक्य, मार्क्स, राम, बुद्ध, विवेकानंद आदि के कथन को आधार बनाए वह विचारक नहीं क्योंकि विचारक अपनी बात ही रखता है, दूसरों की नहीं।

(4) विचारक कभी किसी काल्पनिक घटना को सच बताकर नहीं बोलता। जब भी बोलेगा तो सत्य घटना बोलेगा या उदाहरण देगा ही नहीं। प्रवचनकर्ता या साहित्यकार आमतौर पर काल्पनिक घटनाओं को सत्य के समान प्रस्तुत करते हैं।

(5) विचारक जब बोलता है तो श्रोता या तो सो जाता है या पड़ोसी से बात करता है या जल्दी समाप्त होने की प्रतीक्षा करता है। साहित्यकार के साथ ऐसा नहीं होता। साहित्यकार के साथ श्रोता का प्रत्यक्ष तारतम्य बना रहता है।

(6) विचारक समस्याओं या वर्तमान स्थिति की संक्षिप्त चर्चा करके समाधान पर अधिक बोलता है। साहित्यकार समाधान की अपेक्षा समस्या तक ही अधिक सीमित रहता है।

(7) विचारक व्यावहारिक समाधान की बात करता है तो साहित्यकार उच्च आदर्शकारी।

(8) विचारक इस बात की चिंता नहीं करता कि श्रोता उससे प्रभावित है या नहीं। साहित्यकार या कलाकार निरंतर यह देखता रहता है कि उसके कथन का श्रोता पर कितना प्रभाव पड़ रहा है।

और भी अंतर हो सकते हैं जो आपके लिखने से समझ में आएँगे।

2-ओमप्रकाश मंजुल, पूरनपुर, पीलीभीत, उ.प्र. वर्ष 2015 का पत्र

विचार सुभाषित का विद्यमान पूर्वार्ध, काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम लगता है मुझ जैसे बुद्धिमानों जो बरसात के दिनों को साहित्य में डुबकी लगाकर सानंद व्यतीत करते हैं, के लिए ही लिखा गया है, जबकि मूर्ख यही समय सोने या लड़ने में बर्बाद कर देते हैं। मैं इन दिनों में मेरे देश के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के साहित्य का अनुषीलन किया करता हूँ। मेरे देश के साहित्य-प्रेमी बेसाख्ता पूछ बैठ सकते हैं मोदी का साहित्य? मोदी ने तो कुछ लिखा ही नहीं है। कि इन कम पंक्तियों में उसे समझाया नहीं जा सकता। मेरे देश के मेरे भाइयों, मोदी के मन की

सारी बातों, भावों तथा उनके ए टू ज़ेड भाषणों को जोड़ दें तो वह नरेंद्र कोहली के साहित्य सरोवर से भी कहीं बड़ा साहित्य सागर सिद्ध होगा। मेरे जैसे विद्वानों को छोड़कर मेरे देश के बहुत कम लोग जानते हैं कि अध्ययन की दो विधियाँ होती हैं आगमन और निगमन। आगमन प्रणाली में बात का बतंगड़ बनाकर लक्षणों के द्वारा निष्कर्ष निकाला जाता है, जबकि निगमन में गणित के प्रश्न के हल की तरह उत्तर को ऊपर और प्रक्रिया को नीचे चाय की तरह पतला फैलाकर लक्षण निकाले जाते हैं। मेरे देश के प्रधानमंत्री का अधिकतर साहित्य दूसरे प्रकार का ही है। परिभाषा से विशेषता बताई तो कौन सा तीर मारा। कमाल तो तब है जब विशेषता से परिभाषा निकाली जाये। नशा पिला के गिराना सभी को आता है। मज़ा तो तब है जब गिरते को थाम ले साक़ी। मेरे देश के भाइयों, मैं मोदी जी के मोदपूर्ण मैथड-मैनर से बहुत मुदित हूँ। मोदी जी ने मेरे छात्रों को बहुत मोडिफाइड किया है। मेरे देश के बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि मेरे देश के दलित नेता बाबू जगजीवन राम जी की 5 अप्रैल को जन्म जयंती थी। यह भी मेरे देश के कम लोग ही जानते हैं कि सन 1971 में यदि बाबू जी भारत के रक्षामंत्री न रहे होते तो आज बांग्लादेश नहीं होता। इन्हीं बाबू जी की जन्म जयंती पर मोदी जी ने गाजियाबाद में स्टैंड इंडिया को लांच करते समय अपने दिल-दिमाग दोनों की विशालता का परिचय एक से अधिक बार “मेरे देशवासियों आज बाबू जगजीपन राम जी की जन्म जयंती है” कहकर दिया। जिन छात्रों को मैं अनुप्रास अलंकार की परिभाषा समझाते-समझाते हार गया वे मोदी की निगमन विधि से चुटकी बजाते समझ गये। मोदी जी के उक्त सद्वाक्य को मात्र चार बार चीखने के बाद मैंने देखा कि मेरे प्रिय प्राइवेट ट्यूशन छात्रों का एक साथ विकास होने लगा है। मैंने चढ़े तवे पर चार और सेंक लेने की शैली में विराट के बल्ले की तरह दै दनादन की पूरी अनुप्रासिक ध्वन्यात्मकता के साथ “मेरे गाँव में ग्रीनरी गाय गुड़ गोया गन्ना गुड ग्रांड और ग्रेट गुड्स ग्रांड टोटल में हैं” के कई बार वार किये। इसके बाद मेरे प्रिय छात्रों और मेरे बीच हुए संवाद से आप स्वयं समझ जाएँगे कि उनका कौशल विकास कितनी तात्कालिकता से हुआ। असल में महँगाई की तरह बढ़ रही मोदी की लोकप्रियता को विपक्ष पचा नहीं पा रहा है। परम विद्वान तो वे हैं ही। वास्तव में आज वे बॉलीवुड वाले नहीं, वर्ल्ड वाली राजनीति के हीरो हैं। उनका वेश-विन्यास हो, केश-विन्यास हो, भाषण कला हो, भेंट-न-कला हो, जमीन पर चलने वाली प्लेन या जनरल चाल हो अथवा प्लेन की सीढ़ियों पर चढ़ने-उतरने वाली चाल हो उनके हर क्रियाकलाप में हीरोइज्म की एक विशेष कला देखी जा सकती है। नटवर की हर क्रिया की तरह मोदी की हर लीला मनोहर और मनोरम है। कभी लोग राजेंद्र और जितेंद्र जैसे अभिनेताओं की नकल किया करते थे। आज नेताओं में भी मोदी जैसे जैकेट-कुर्तों की होड़ छिपी हुई है। वे मोदी की तरह कपड़े पहनने में मोद और गौरव अनुभव करते हैं। उनकी आयु का विश्व में दूसरा इतना स्मार्ट नहीं है। इतना स्मार्ट प्रधानमंत्री मिलना अपने प्रिय देश का सौभाग्य है।

उत्तरः अब तक तो मैं मोदी जी को विचारक या कूटनीतिज्ञ तक ही सीमित समझता था। किन्तु आपने उनकी साहित्यिक प्रतिभा, बोलने की कला, कपड़े पहनने की कला आदि के विषय में लिखा-यह मेरे लिए नई जानकारी है। चूँकि मैं साहित्य सहित अन्य कलाओं से पूरी तरह अनभिज्ञ हूँ, इसलिए मुझे जानकारी के अभाव में इन सबमें कोई आनंद नहीं आता। यही कारण है कि मैं आपके पत्र का भी कोई तार्किक उत्तर नहीं दे पा रहा, क्योंकि आपका पत्र मोदी जी की साहित्यिक प्रतिभा से संबंधित है और मैं साहित्य से लगभग शून्य हूँ। आशा है कि आप मेरी मजबूरी समझेंगे।

3 साहित्यकारों की सम्मान वापसी और भारत सरकार

प्रश्न-पिछले दिनों जब से भारत की राजनैतिक व्यवस्था में एक सम्प्रदाय का एकाधिकारवादी हस्तक्षेप समाप्त होकर दूसरे सम्प्रदाय का हस्तक्षेप शुरू हुआ है, तभी से राजनेताओं के साथ-साथ विचार-प्रतिबद्ध साहित्यकारों के बीच भी टकराव बढ़ गया है। इसी तरह राजनैतिक व्यवस्था के बदलते ही वामपंथी राजनेताओं के साथ-साथ वामपंथ से प्रतिबद्ध साहित्यकारों से भी पूँजीवादी व्यवस्था से जुड़े साहित्य प्रेमियों के बीच टकराव शुरू हो गया है। इन टकरावों में अपने प्रतिबद्ध साहित्यकारों के पक्ष-विपक्ष वाले संगठित गिरोह भी खड़े दिखते हैं। कभी-कभी ऐसे ध्रुवीकरण के बीच का टकराव हिंसक भी हो जाता है। मेरे विचार में किसी भी प्रकार की हिंसा रोकना सम्पूर्ण व्यवस्था का काम है। किन्तु इस प्रकार के टकरावों को रोकने में निष्पक्ष और निरपेक्ष राजनेताओं को बीच में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, बल्कि उन्हें अंदर-अंदर प्रसन्न होना चाहिए कि अलग-अलग सम्प्रदाय के लोग आपस में टकराकर निष्पक्ष और निरपेक्ष लोगों की समस्या को कम कर रहे हैं। ऐसे ही बदले वातावरण में एक पक्ष विशेष के प्रतिबद्ध साहित्यकार श्री कलबुर्गी की हत्या हो गई। स्पष्ट है कि पिछले 67 वर्षों से साम्प्रदायिक मुसलमानों और वर्ग-संघर्ष प्रेमी वामपंथियों के सहयोग से एक राजनैतिक व्यवस्था चल रही थी। दुनिया जानती है कि उस राजनैतिक व्यवस्था ने अपने सहयोगी साहित्यकारों को बड़े-बड़े सम्मान दिये। ऐसे ही सम्मानित कुछ साहित्यकारों की हत्याओं के विरोध में ऐसी ही प्रतिबद्ध विचारधाराओं से जुड़े हुए तथा सम्मान प्राप्त साहित्यकारों में से कुछ ने विरोध स्वरूप अपने सम्मान पदक वापस कर दिये। इस सम्मान वापसी में साहित्य का प्रश्न गौण था और नई राजनैतिक व्यवस्था में बढ़ते हिन्दुत्व के सशक्तिकरण के विरोध में अधिक था। इसी तरह एक महिला खिलाड़ी विनेश फोगाट ने भी विपक्षी दलों के साथ मिलकर बहुत

नाटक किया। अपने मेडल हरिद्वार में बहाने के लिए गई विनेश फोगाट ने महिला और खिलाड़ी होने के नाम पर कितना नाटक किया यह दुनिया जानती है। वामपंथी साहित्यकारों ने भी तथा मीडिया ने भी फोगाट की बहुत मदद की और अब यह बात साफ हो गई कि उसका सारा नाटक राजनीतिक था।

उत्तर-मैं स्पष्ट हूँ कि भारत में तीन खतरनाक शक्तियों का सशक्तिकरण घातक है

1. **वामपंथी संगठन**
2. **साम्प्रदायिक इस्लामिक विचारधारा**
3. **संगठित संघ परिवार**

दुर्भाग्य से वामपंथी संगठन तथा साम्प्रदायिक मुसलमानों ने गठजोड़ कर लिया तथा संघ परिवार से उनका सीधा टकराव हुआ। यह टकराव ही सामाजिक सुरक्षा के लिए एक शुभ लक्षण है। साहित्यकारों की हत्या में भी ऐसे ही साम्प्रदायिक संगठनों के बीच आपसी टकराव स्पष्ट है। यह साफ-साफ दिखता है कि मोदी सरकार के पूर्व की व्यवस्था से जो साम्प्रदायिक संगठन लाभ उठा रहे थे वैसा ही लाभ अब मोदी के बाद नये साम्प्रदायिक संगठन उठाने की फ़िराक में हैं। दोनों ही पक्ष मोदी सरकार पर दबाव बनाना चाहते हैं। यह दबाव चूंकि द्विपक्षीय है अतः यह मोदी सरकार के लिए ऑक्सीजन का काम करेगा। मोदी जी लम्बे समय से इस टकराव पर लगभग चुप रहे और बोले भी तो बहुत सतर्क होकर। मोदी जी ने पदक लौटाने वाले एक गुट-विशेष के साहित्यकारों का विरोध करने के लिए दूसरे गुट के लोगों को सामने आने दिया। मैं अब भी समझता हूँ कि नरेंद्र मोदी जी की सोच और कार्यप्रणाली बिल्कुल ठीक है और अन्य निरपेक्ष तटस्थ लोगों को भी चुप रहकर दोनों के बीच के विवाद का लाभ उठाना चाहिए या सही का साथ देना चाहिए। यदि इस विवाद में कोई हिंसा होती है, कोई कानून टूटता है तो उस हिंसा को रोकना, कानून की सुरक्षा करना, कानून का काम है, व्यवस्था का काम है, नेता का नहीं, समाज का नहीं, हमारा नहीं। मैं न पिछले प्रतिबद्ध साहित्यकारों के पक्ष में कभी रहा और न ही वर्तमान प्रतिबद्ध साहित्यकारों के, क्योंकि दोनों ही किसी वर्तमान विचारक के निष्कर्ष को आगे नहीं बढ़ा पा रहे हैं। बल्कि दोनों ही मृत महापुरुषों के निष्कर्षों का अंधानुकरण कर रहे हैं। किन्तु पिछले कुछ वर्ष से यह शुभ लक्षण दिख रहा है कि वैचारिक जड़ता को किसी भिन्न वैचारिक जड़ता से चुनौती मिल रही है, और उसका लाभ होगा कि दो जड़ विचारों के बीच किसी वास्तविक विचारक को भी कोई स्थान प्राप्त हो सकेगा। इस टकराव में हम सबका कर्तव्य है कि हम विचार-मंथन को आगे बढ़ाने का प्रयास करें। वैसे किसी भी रूप से निराश होना ठीक नहीं। स्वतंत्र विचारकों को हिम्मत रखने की जरूरत है। भले ही साहित्य अपनी स्वतंत्रता खो दे किन्तु विचार अपनी स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करता रहेगा क्योंकि यदि विचार अपनी स्वतंत्रता को बचाने

में सफल रहा तो साहित्य उसका साथ दे सकता है और तब स्वतंत्र साहित्य तथा स्वतंत्र विचार मिलकर समाज के बीच बढ़ते अंधेरे को घटाने में सहायक हो सकते हैं। यदि साहित्य प्रतिबद्ध, गुलाम या भयभीत हुआ तो आंशिक क्षति है; यदि राजनीति हुई तो कुछ विशेष क्षति है; यदि समाज सेवा हुई तो अपूर्णनीय क्षति है, किन्तु यदि विचार ही प्रतिबद्ध, गुलाम, व्यावसायिक या भयग्रस्त हुआ तो बचा ही क्या? आइये और विचार अभिव्यक्ति पर आये संकट का सामना करने को सब एकजुट हो जाएँ।

यह सही है कि वामपंथ से प्रतिबद्ध साहित्यकारों ने साहित्य को भी तोड़-मरोड़ कर अविश्वसनीय बना दिया और सामाजिक मान्यताओं को भी तहस-नहस किया, लेकिन अब दक्षिणपंथी साहित्यकार खुलकर उन्हें चुनौती दे रहे हैं और भारत सरकार भी दक्षिणपंथी साहित्य का अप्रत्यक्ष समर्थन कर रही है। कल बुर्गी की हत्या या विनेश फोगाट के नाटक को जेएनयू के साहित्यकारों ने जिस तरह तिल का ताड़ बनाने की कोशिश की थी, वह कोशिश असफल हो गई है। अब वामपंथी साहित्यकारों को दक्षिणपंथी और संघ परिवार मिलकर जिस तरह चुनौती दे रहे हैं, उसके अच्छे परिणाम भी दिखाई दे रहे हैं। अभी बिहार के चुनाव में भी इन वामपंथी साहित्यकारों ने आसमान सर पर उठा रखा था, लेकिन बिहार की जनता ने ऐसे लोगों को पाताल तक पहुंचा दिया है। इसलिए धैर्य और , सक्रियता ही इस समस्या का समाधान हो सकता है।

प्रश्न 4- आपकी साहित्य में कितनी रुचि है? वर्तमान समय में जब विचारकों का अभाव हो गया है, तब ऐसी परिस्थिति में साहित्यकारों को क्या करना चाहिए?

उत्तर: मैं आपकी चिंता को समझता हूँ। ऐसी परिस्थिति में माँ संस्थान विचारकों का अभाव दूर करने का प्रयास कर रहा है। गंभीर विचारकों की संख्या देश में बढ़ रही है। साहित्यकारों को चाहिए कि वे माँ संस्थान के साथ संपर्क करें। विचारक और साहित्यकार एक साथ जुड़कर ही इस समस्या का समाधान कर सकते हैं।

मुनि जी का पोस्ट

नयी समाज व्यवस्था :

1. महिला-पुरुष संबंधः क्या यह सामाजिक मुद्दा है या निजी मामला?

आज मैंने महिला-पुरुष संबंधों और परिवारिक संरचना पर एक लेख लिखा था। स्वाभाविक है कि कुछ लोगों ने प्रश्न भी उठाए। लेकिन प्रश्नों के साथ-साथ यह विचार करना भी आवश्यक है कि विकल्प क्या हैं और समाज किस प्रकार इन जटिल स्थितियों का सामना करे। दिल्ली के नबी करीम क्षेत्र में हाल ही की एक घटना इसका उदाहरण है, जहाँ एक महिला के साथ दो पुरुषों के अलग-अलग संबंधों ने गंभीर विवाद उत्पन्न कर दिया। यह विवाद अंततः हत्या तक पहुँच गया कारण यह था कि गर्भ में पल रहे बच्चे के पितृत्व को लेकर स्थिति स्पष्ट नहीं थी। इसी प्रकार, कुछ समय पहले पंजाब के एक पूर्व डीजीपी के पुत्र का मामला सामने आया। वह लगभग 18 वर्षों से मानसिक अवसाद का उपचार ले रहा था और अंततः उसका निधन हो गया। इस मामले में परिवार के भीतर कुछ संभावित संबंधों पर प्रश्न उठे, परंतु इन तथ्यों की सत्यता क्या हैयह स्पष्ट नहीं। फिर भी यह विचार करने योग्य है कि यदि ऐसे निजी संबंध वास्तव में मौजूद भी हों, तो क्या इनकी जाँच सरकार या समाज द्वारा की जानी चाहिए? मेरे विचार में यह पूरी तरह पारिवारिक विषय है न संवैधानिक, न सामाजिक। इन्हीं घटनाओं को ध्यान में रखते हुए मेरा सुझाव है कि महिला-पुरुष संबंधों को व्यक्ति और परिवार की सीमाओं के भीतर रहने दिया जाए। समाज या सरकार द्वारा निजी एवं अंतरंग मामलों में अत्यधिक हस्तक्षेप कई बार हिंसा, आत्महत्याओं, मुकदमों और गंभीर विवादों को जन्म देता है।

अतः आवश्यक है कि हम इन संबंधों को
न तो सामाजिक अपराध का रूप दें,
न ही इन्हें सार्वजनिक हस्तक्षेप का विषय बनाएँ।
इन्हें व्यक्ति और परिवार के आंतरिक मामलों तक ही सीमित रहने देना अधिक उचित और संतुलित होगा।

2. महिला-पुरुष संबंधों में कानूनी हस्तक्षेप की समाप्तिः एक नई दिशा

वर्तमान समाज व्यवस्था में महिला-पुरुष संबंधों को लेकर अनेक जटिलताएँ उत्पन्न हो रही हैं। संतान की पितृत्व पहचान भी कई बार विवाद का कारण बन जाती है, जिसके परिणामस्वरूप आत्महत्या, हिंसा तथा मुकदमेबाज़ी जैसी घटनाएँ बढ़ रही हैं। इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हमने महिला-पुरुष संबंधों पर गंभीर विचार किया और एक वैकल्पिक समाधान का प्रस्ताव रखा है।

हमारा मानना है कि महिला-पुरुष संबंधों को कानूनी स्तर पर पूर्ण स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। महिला और पुरुष, दोनों के अधिकार समान माने जाएँ। किसी संतान का पिता कौन है या माता-पिता के संबंधों की संरचना क्या है यह सरकार के स्तर पर कोई पहचान का विषय न बने। व्यक्ति चाहे तो अपनी निजी पहचान स्वयं निर्धारित कर सकता है। संतान की आधिकारिक पहचान माता के साथ जोड़ी जाएगी। संतान उस परिवार की मानी जाएगी, जिसका सदस्य उसकी माता है। पिता-आधारित पहचान को सरकारी अभिलेखों से हटाया जाएगा। इसी प्रकार, कौन किसका पति या पत्नी है यह भी सरकारी रिकॉर्ड का विषय नहीं होगा। परिवार अपनी सहमति से अपनी व्यवस्था तय करेगा। यदि परिवार चाहे, तो कोई महिला परिवार की सहमति से एक से अधिक पुरुषों के साथ रह सकती है, और यदि परिवार अनुमति दे, तो कोई पुरुष भी एक से अधिक महिलाओं के साथ रह सकता है। परिवार को एक स्वतंत्र एवं संवैधानिक इकाई माना जाएगा, जिसे अपने आंतरिक नियम बनाने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी। बल प्रयोग और जालसाज़ी को छोड़कर महिला-पुरुष संबंधों के किसी भी मामले में सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी। और यदि बल प्रयोग या जालसाज़ी जैसे मामलों में भी परिवार के भीतर आपसी समाधान हो जाए, तो सरकार का कानून उसमें दखल नहीं देगा। इस प्रकार, महिला, पुरुष और संतान से जुड़े विवादों को समाप्त करने का प्रयास किया जा सकता है, क्योंकि सरकार और कानून इन निजी विषयों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

3. स्वतंत्र परिवार व्यवस्थाः 70 वर्षों की मेरी सोच

मैं बचपन से ही यह लिखता और कहता रहा हूँ कि परिवार को अपने पारिवारिक निर्णय लेने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए, और इन निर्णयों में कानून का अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। मेरा मानना है कि परिवार का मुखिया स्वयं परिवार की सामूहिक सहमति से चुना जाए, और परिवार चाहे तो किसी भी समय उसे बदल भी सके। सरकार केवल उसी मुखिया को मान्यता दे जिसे परिवार ने चुना हो। साथ ही, परिवार के सभी सदस्यों का पंजीकृत होना भी आवश्यक है।

मैं लगभग 70 वर्षों से इस विचार को समाज में रखता आया हूँ। समाज के कई लोगों ने इसका समर्थन भी किया, लेकिन राजनीतिक नेतृत्व ने इस दिशा में कभी ठोस प्रयास नहीं किए। ऐसा लगता है कि राजनीति ने हमेशा परिवार को स्वतंत्र इकाई के रूप में विकसित होने देने के बजाय उसे नियंत्रण में रखने को प्राथमिकता दी। मेरी यह धारणा थी कि यदि परिवार स्वयं अपना मुखिया चुनेगा, तो अधिकांश मामलों में मुखिया पुरुष ही चुने जा सकते हैं।

फिर भी, मैं कभी भी पुरुष और महिला के बीच किसी भी प्रकार के भेदभाव का समर्थक नहीं रहा हूँ। मेरे विचार में परिवार की संरचना को तय करने का अधिकार परिवार को ही होना चाहिए। हाल में कुछ अंतरराष्ट्रीय चर्चाओं में परिवार के अधिकारों और पारिवारिक निर्णयों की स्वायत्तता पर जोर दिया गया है। यह बात सराहनीय भी है और समाज के विकास के लिए आवश्यक भी। परिवार-केन्द्रित सोच आधुनिक समाज के लिए एक सुदृढ़ आधार बन सकती है। मेरी दृष्टि में भारत में भी यह समय है कि "महिला सशक्तिकरण" के साथ-साथ "परिवार सशक्तिकरण" को भी महत्व दिया जाए, क्योंकि एक मज़बूत और स्वतंत्र परिवार ही वास्तविक सामाजिक शक्ति का निर्माण कर सकता है।

4. प्राकृतिक संपदा, सामूहिक अधिकार और संपत्ति की स्वतंत्रता

हम लगातार यह कहते रहे हैं कि संपत्ति व्यक्ति का मौलिक अधिकार है। किसी भी व्यक्ति की सहमति के बिना न तो उसकी संपत्ति ली जा सकती है और न ही उस पर किसी प्रकार की सीमा लगाई जा सकती है। मेरे एक मित्र, रोशन लाल, मेरी इस धारणा के विरोधी थे। उन्होंने 'अमीरी रेखा' का एक नया सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनका तर्क था कि दुनिया की सारी प्राकृतिक वस्तुएँ हवा, पानी, पृथ्वी, जल, जंगल, जमीन तथा अन्य प्राकृतिक संसाधन हर व्यक्ति की समान साझी संपदा हैं। इसलिए, किसी भी व्यक्ति को इस साझी संपदा का अपने हिस्से से अधिक संचय करने का अधिकार नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना दूसरों के अधिकार का उल्लंघन माना जाएगा। मैं इस सिद्धांत के हमेशा विरुद्ध रहा हूँ। मेरा मानना है कि जल जमीन जंगल जैसी समस्त प्राकृतिक संपदा पर व्यक्तिगत नहीं, बल्कि मनुष्य का सामूहिक अधिकार होता है। कोई भी व्यक्ति सामूहिक सहमति से अपनी क्षमता और परिश्रम के आधार पर इन संसाधनों का उपयोग कर सकता है। इसका आशय यह है कि किसी भी मनुष्य की स्वतंत्रता पर अनावश्यक प्रतिबंध नहीं लगना चाहिए। इसी कारण मैं जीवन भर स्वतंत्रता का पक्षधर रहा हूँ, जबकि रोशन लाल समानता के सिद्धांत को प्राथमिकता देते रहे। साम्यवादी चिंतन का यह तर्क मुझे अत्यंत हानिकारक प्रतीत होता है

यदि एक तालाब में पर्याप्त जल है और चार प्यासे व्यक्ति खड़े हैं, उनमें से एक व्यक्ति जाकर पानी पी लेता है और अपनी मेहनत से एक बाल्टी पानी निकाल कर वापस ले आता है। वह तीनों निष्क्रिय व्यक्तियों को वह पानी पैसे लेकर बेचता है। तब यह तीनों आपत्ति करते हैं कि चूँकि पानी संयुक्त था, इसलिए वह बेचने का अधिकारी नहीं था। मेरी दृष्टि में ये तीनों गलत हैं; जबकि रोशन लाल के तर्कानुसार ये तीनों सही ठहरते हैं। रोशन लाल कहते थे कि वह व्यक्ति पानी पी सकता है, पर हमारी अनुमति के बिना उसे लाकर बेच नहीं सकता। मैं आज भी अपने विचार को सही मानता हूँ। संपत्ति का मौलिक अधिकार होना आवश्यक है, क्योंकि समाज को समानता से अधिक स्वतंत्रता की आवश्यकता है। मेरे अनुसार संविधान की प्रस्तावना में 'समानता' शब्द के स्थान पर 'स्वतंत्रता' को प्रमुखता दी जानी चाहिए।

5. कानूनी हस्तक्षेप का दायराः निर्दोषता, संबंध और दायित्व

हम नई समाज व्यवस्था का एक प्रारूप आपके सामने रख रहे हैं। इस व्यवस्था के अनुसार, यदि किसी व्यक्ति को कोई संवैधानिक इकाई गैर-कानूनी तरीके से दंड देती है, तो उस दंड को कोई भी व्यक्ति चुनौती नहीं दे सकता जब तक कि:

1. आपकी व्यक्तिगत जानकारी के अनुसार वह व्यक्ति निर्दोष न हो,

2. वह आपका निकट संबंधी न हो,

3. या आप उसके वैधानिक वकील न हों।

केवल इन तीन परिस्थितियों में ही आप उस व्यक्ति के पक्ष में खड़े हो सकते हैं।

इसका अर्थ यह है कि यदि पुलिस किसी व्यक्ति को मारती-पीटती है या गोली मार देती है, तो कोई भी बाहरी व्यक्ति बिना उचित आधार के हस्तक्षेप नहीं कर सकता। आप तभी उसकी सहायता कर सकते हैं जब वह आपका निकट संबंधी हो, आपकी जानकारी में निर्दोष हो, या आप उसके वकील हों। यदि इन परिस्थितियों के बाहर कोई व्यक्ति पुलिस के काम में हस्तक्षेप करता है, तो उस पर यह जिम्मेदारी होगी कि वह आरोपी को निर्दोष सिद्ध करे। आजकल यह एक प्रवृत्ति बन गई है कि पुलिस की हर कार्रवाई पर अनावश्यक संदेह और प्रश्न उठाए जाते हैं। मैंने हमेशा ऐसी प्रवृत्ति का विरोध किया है। सोहराबुद्दीन के मामले में मैंने पुलिस का समर्थन किया था, अंसल प्लाज़ा की घटना में भी मैंने पुलिस का समर्थन किया था। लगभग सभी मामलों में मैं पुलिस द्वारा किए गए दंड का समर्थक रहा हूँ। वर्तमान समय में योगी आदित्यनाथ जो कदम उठा रहे हैं, उनका भी मैं समर्थन करता हूँ। इसीलिए मेरा निवेदन है कि जब तक आपकी अपनी प्रत्यक्ष जानकारी में कोई व्यक्ति निर्दोष न हो, तब तक स्थापित व्यवस्था और संवैधानिक संस्थाओं पर प्रश्न न उठाएँ।

6. कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका की सामूहिक अवधारणा

नई समाज व्यवस्था में राज्य और समाज की भूमिकाएँ एक-दूसरे से स्पष्ट रूप से अलग होंगी। समाज अनेक संगठनों में विभाजित होकर प्रत्येक व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा, जबकि राज्य सुरक्षा और न्याय की गारंटी प्रदान करेगा। राज्य का प्राथमिक दायित्व होगा कि वह हर व्यक्ति को पूर्ण सुरक्षा उपलब्ध कराए।

राज्य की कार्यप्रणाली एक सुव्यवस्थित संरचना के तहत संचालित होगी, और यह संरचना समाज द्वारा निर्मित संविधान के अनुरूप कार्य करेगी। इस व्यवस्था में संविधान ही व्यवस्था का केंद्र होगा, जबकि सरकार को तंत्र के रूप में परिभाषित किया जाएगा। इस तंत्र में न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका तीनों शामिल होंगे। इसका अर्थ यह है कि सरकार शब्द केवल कार्यपालिका के लिए प्रयोग नहीं किया जाएगा, बल्कि पूरे तंत्र को ही सरकार माना जाएगा। कार्यपालिका केवल वह अंग होगी जो न्यायपालिका और विधायिका द्वारा लिए गए निर्णयों का क्रियान्वयन करेगी।

इस प्रकार, कार्यपालिका को सरकार मानना नई समाज व्यवस्था में एक त्रुटिपूर्ण अवधारणा होगा। राजनीतिक व्यवस्था की जिम्मेदारी संविधान की होगी। यदि राजनीतिक व्यवस्था में कोई त्रुटि पाई जाती है, तो उसका उत्तरदायी संविधान माना जाएगा; और यदि सरकार (अर्थात् पूरा तंत्र) में कोई गड़बड़ी पाई जाती है, तो उसकी जिम्मेदारी समस्त तंत्र पर होगी, न कि केवल कार्यपालिका पर। अतः अब यह भ्रम दूर कर देना चाहिए कि कार्यपालिका ही सरकार है। सम्पूर्ण तंत्र ही सरकार है, और संविधान राजनीतिक व्यवस्था का मूल आधार है। राजनीतिक व्यवस्था और सरकार इन दोनों को स्पष्ट रूप से अलग-अलग समझना आवश्यक है।

7. व्यक्ति, समाज और राज्यः बदलते संबंधों का पुनर्मूल्यांकन

व्यक्ति और समाज दोनों मूल इकाइयाँ हैं, किंतु व्यक्ति से ही समाज बनता है और समाज से ही व्यक्ति का निर्माण होता है। इसलिए, न तो व्यक्ति और न ही समाज दोनों में से किसी का भी पूर्णतः स्वतंत्र अस्तित्व संभव है। व्यक्ति की स्वतंत्रता मूलतः असीम है, और उसकी सहमति के बिना उसकी स्वतंत्रता छीनी नहीं जा सकती। साथ ही यह भी सत्य है कि व्यक्ति का समाज से जुड़ना अनिवार्य है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अकेले नहीं रह सकता। व्यक्ति की स्वतंत्रता और सह-जीवन के बीच संतुलन ही समाजशास्त्र का आधार है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति को यह पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह जिस भी समूह या व्यक्ति के साथ चाहे, जितने समय तक चाहे, जुड़कर रह सकता है। साथ ही, उसकी यह अनिवार्यता भी है कि वह किसी न किसी सामाजिक इकाई के साथ जुड़ा रहे। एक बार जुड़ जाने पर उसकी स्वतंत्रता समाप्त नहीं होती, बल्कि संयुक्त स्वतंत्रता में परिवर्तित हो जाती है।

वर्तमान भारतीय परिस्थितियाँ इस सिद्धांत के विपरीत दिखाई देती हैं। एक ओर न्यायालय व्यक्ति की स्वतंत्रता को अत्यधिक महत्त्व देता है, तो दूसरी ओर समाज और राज्य व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छा की भी पर्याप्त परवाह नहीं करते। सोचने की बात है कि व्यक्ति किसी भी संबंध या सामाजिक इकाई के साथ तभी तक जुड़ा रह सकता है, जब तक वह सहमत है; परंतु हमारे कठोर और पुराने कानून व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध भी परिवार के साथ रहने के लिए बाध्य कर देते हैं। इसी प्रकार, किसी सामाजिक इकाई या संगठन के साथ जुड़े व्यक्ति की यह जिम्मेदारी है कि वह सत्य बताने में ईमानदार रहे। यदि वह सत्य नहीं बताता, तो संगठन उसे सत्य बताने के लिए बाध्य कर सकता है या उसे अपने समूह से बाहर कर सकता है। आश्चर्य की बात यह है कि न्यायालय व्यक्ति को सत्य न बताने की भी स्वतंत्रता प्रदान करता है। यह व्यवस्था व्यक्ति, समाज और राज्य तीनों के आपसी संबंधों में असंतुलन उत्पन्न करती है।

इसलिए, यह अत्यंत आवश्यक है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता और समाज के साथ उसके अनिवार्य संबंध दोनों के बीच नए सिरे से संतुलन स्थापित किया जाए, और वर्तमान न्यायिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण का पुनर्मूल्यांकन किया जाए।

8. महापुरुषों के अधूरे प्रयत्न और उनका संदर्भ

हम नई समाज व्यवस्था पर चिंतन कर रहे हैं। हमारी समग्र व्यवस्था सदैव समाज और राज्य, दोनों के संतुलन पर आधारित रही है। किंतु समय के साथ समाज व्यवस्था में कुछ गंभीर बुराइयाँ उत्पन्न हुईं। हम समाज में विद्वानों का सम्मान बनाए नहीं रख सके, या विद्वान स्वयं चिंतन से विमुख हो गए जो भी कारण रहा हो, परिणाम यह हुआ कि समाज में विकृति आई और वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था रूढ़ और कठोर होती चली गई। समाज की इस कमजोरी का राज्य व्यवस्था ने लाभ उठाया और धीरे-धीरे समाज व्यवस्था को लगभग समाप्त कर पूरा अधिकार अपने हाथ में केंद्रित कर लिया। इस असंतुलन को सुधारने का प्रयत्न स्वामी दयानंद, विवेकानंद, गांधी, श्रीराम शर्मा जैसे महापुरुषों ने किया, परंतु राज्य व्यवस्था की कठोर संरचना और उसके प्रभाव के कारण उनके प्रयास अपेक्षित परिणाम तक नहीं पहुँच सके। अब हम सब मिलकर इस समस्या के समाधान की दिशा में कार्य आरम्भ कर रहे हैं। एक ओर हम राज्य व्यवस्था के समाज पर अनावश्यक हस्तक्षेप को कम करने का प्रयास कर रहे हैं, और दूसरी ओर समाज व्यवस्था को पुनः सशक्त बनाने का भी संकल्प ले रहे हैं।

हम एक संविधान सभा का गठन कर रहे हैं, जिसके माध्यम से संविधान संशोधन का अधिकार राज्य से हटकर समाज के हाथों में आए इस दिशा में हम प्रयत्नशील हैं। साथ ही, हम एक विचार सभा का निर्माण कर रहे हैं, जो समाज व्यवस्था में आई बौद्धिक और नैतिक कमजोरियों को दूर करने का कार्य करेगी। इसी के साथ परिवार व्यवस्था में उत्पन्न विकृतियों को भी सुधारने का लक्ष्य

हमारा है। इस प्रकार, इन तीनों दिशाओं में समानांतर प्रयास करके 'मां संस्थान' उन अधूरे प्रयासों को सफल बनाने का संकल्प ले रहा है, जिन्हें स्वामी दयानंद, विवेकानंद, गांधी, श्रीराम शर्मा और अन्य महापुरुष पूरा करना चाहते थे।

9. गलत परिभाषाओं से उत्पन्न भ्रम और सही विचार-परंपरा का पुनर्जागरण

पुराने समय में भारत विश्व को विचारों का निर्यात करता था, किंतु पिछले कुछ शताब्दियों में यहाँ चिंतन-मंथन की परंपरा धीरे-धीरे क्षीण हो गई। परिणामस्वरूप भारत स्वयं दुनिया से विचारों का आयात करने लगा। जब विश्व में मौलिक विचारों का अभाव था, तब उसका प्रभाव भारत पर पड़ना स्वाभाविक था। इसी स्थिति में विदेशी चतुर लोगों ने भारत के समाज में प्रचलित अनेक मूलभूत परिभाषाओं को धीरे-धीरे बदल दिया। मेरा अनुभव है कि किसी भी निष्कर्ष की शुद्धता में परिभाषाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। जब परिभाषाएँ ही विकृत हो जाएँ, तो आगे के निष्कर्ष भी अनिवार्य रूप से भटकने लगते हैं। आज स्वराज, संविधान, मौलिक अधिकार, अपराध, धर्म, समाज, महँगाई, बेरोज़गारी, समाजवाद आदि विषयों की परिभाषाएँ जानबूझकर बदल दी गई हैं। इसी कारण समाज में व्यापक भ्रम फैल गया है और गलत परिभाषाएँ ही सामान्य समझ का आधार बन गई हैं।

नई समाज व्यवस्था के अंतर्गत हम एक विशेष समूह बना रहे हैं, जो प्रतिदिन बैठकर इन सभी विषयों की परिभाषाओं पर गंभीर चिंतन-मंथन करेगा। यह समूह सही निष्कर्षों तक पहुँचेगा और समाज में प्रचलित गलत परिभाषाओं के स्थान पर यथार्थ और संतुलित परिभाषाएँ प्रस्तुत करेगा। इस दिशा में हमारा कार्य पिछले एक वर्ष से प्रारंभ हो चुका है और निरंतर आगे बढ़ रहा है।

10. मनुस्मृति, इस्लाम और पश्चिम समन्वय की नई दिशा

हम नई समाज व्यवस्था का एक समग्र और संतुलित ढाँचा तैयार कर रहे हैं। इस ढाँचे में हम मनुस्मृति की उन सकारात्मक बातों को भी स्थान देंगे, जो समाज के लिए उपयोगी और समय-समर्थ सिद्ध होती हैं। प्राचीन भारत में शासन व्यवस्था मनुस्मृति के सिद्धांतों के आधार पर संचालित होती थी। बाद में मुस्लिम शासनकाल में कुरान के कुछ सिद्धांत प्रभावी हुए, और अंग्रेजों के आगमन के पश्चात उनकी प्रशासनिक प्रणाली को अपनाया गया। स्वतंत्र भारत में आज कुछ लोग मनुस्मृति की निंदा आँख मूँदकर करते हैं, वहीं कुछ लोग कुरान या पाश्चात्य विचारों का भी बिना सोचे-समझे विरोध करते हैं। हमारा दृष्टिकोण इससे भिन्न है। हमारा मानना है कि मनुस्मृति में अनेक मूल्यवान तत्व हैं, साथ ही कुछ त्रुटियाँ भी हैं। हम त्रुटियों को अलग करके उसकी उपयोगी शिक्षाओं को अपनाएँगे। उसी प्रकार इस्लाम और पश्चिमी सभ्यता की भी जो बातें समाज को बेहतर बनाती हैं, उन्हें भी सम्मानपूर्वक सम्मिलित किया जाएगा। हम किसी ग्रंथ या विचारधारा की अंधानुकरण नहीं करेंगे। हमारा उद्देश्य वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप, तर्कसंगत, न्यायसंगत और व्यावहारिक आधार पर एक नई समाज व्यवस्था का निर्माण करना है।

जो लोग मनुस्मृति का विरोध बिना समझे करते हैं, हम उन्हें मानते हैं कि वे सही मार्ग पर नहीं हैं। ऐसे व्यक्तियों को हम तर्क के आधार पर समझाने का प्रयास करेंगे, और यदि आवश्यक हो तो उनकी असंगत आलोचना को नज़रअंदाज़ भी करेंगे। परंतु नई व्यवस्था में मनुस्मृति की सकारात्मक और सारगर्भित बातों को उचित स्थान अवश्य दिया जाएगा।

11. व्यक्ति-आधारित आरक्षण: जाति नहीं, चरित्र और गरीबी

हमने नई समाज व्यवस्था में यह निर्णय लिया है कि कानून में मनुस्मृति की महत्वपूर्ण और उपयोगी बातों को स्थान दिया जाएगा। इसके साथ-साथ यह भी सुनिश्चित किया जाएगा कि यदि समाज में समझदारी घट रही हो, तो समझदारी को बढ़ावा देने के लिए विशेष आरक्षण दिया जाए। यदि कहीं गरीबी बढ़ती है, तो गरीबों को भी आरक्षण प्रदान किया जा सकता है। इसी प्रकार, यदि किसी विशेष वर्ग को सहायता की आवश्यकता हो, तो उसे भी आरक्षण दिया जा सकता है; परंतु आरक्षण व्यक्ति-आधारित होगा, वर्ग-आधारित नहीं।

इसका अर्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति अछूत, दलित, आदिवासी या किसी भी आरक्षित समूह से है, तो उसे आरक्षण तभी मिलेगा जब वह शरीफ़ भी हो और गरीब भी। जब तक वह शरीफ़ नहीं होगा, उसे आरक्षण नहीं मिलेगा; और जब तक वह गरीब नहीं होगा, तब तक भी आरक्षण नहीं दिया जाएगा। अर्थात् चाहे व्यक्ति दलित हो, आदिवासी हो, महिला हो, दिव्यांग हो कोई भी हो लेकिन उस पर शराफ़त और गरीबी, दोनों के मानदंड अवश्य लागू होंगे। नई समाज व्यवस्था में आरक्षण केवल जाति पर आधारित नहीं होगा, बल्कि जाति के साथ-साथ गरीबी और शराफ़त दोनों के मानदंड भी अनिवार्य रूप से लागू होंगे। आरक्षण स्थायी नहीं होगा; यह सदैव अल्पकालिक और परिस्थितिनुकूल रहेगा।

12. शराब व सेक्स पर दमनात्मक कानूनों की समाप्ति

हम नई समाज व्यवस्था में यह स्पष्ट सिद्धांत अपनाते हैं कि शराब और सेक्स संबंधी मामलों में अत्यधिक कानून व्यक्ति की समझदारी को कम करते हैं। इसलिए इन विषयों पर बनाए गए वर्तमान अधिकांश दमनात्मक कानूनों को समाप्त कर, निर्णय की अधिकतम स्वतंत्रता व्यक्ति को दी जाएगी। हमारा विश्वास है कि समाज तभी परिपक्व बनता है जब लोग अपने निर्णय स्वयं लेते हैं, न कि भय या प्रतिबंध के आधार पर। हाल ही में प्राप्त एक रिपोर्ट के

अनुसार मुस्लिम देशों में शराब का उपयोग बहुत कम है, क्योंकि वहाँ शासन का स्वरूप तानाशाही के निकट है। इसके विपरीत, पश्चिमी लोकतांत्रिक देशों में शराब का प्रयोग लगातार घट रहा है, क्योंकि वहाँ समाज समझदारी और आत्म-अनुशासन के आधार पर विकसित हुआ है। भारत की समस्या यह है कि यहाँ न तो तानाशाही है और न ही पूर्ण लोकतांत्रिक परिपक्वता; परिणामस्वरूप कठोर कानून बनाकर शराब को रोकने का प्रयास किया जाता है, जो व्यावहारिक रूप से सफल नहीं होता। हमारा मानना है कि शराब और सेक्स पर नियंत्रण केवल दो तरीकों से संभव है एक तानाशाही द्वारा, और दूसरा समझदारी द्वारा। हम तानाशाही का मार्ग स्वीकार नहीं करते, बल्कि समझदारी, शिक्षा और स्वतंत्रता के आधार पर एक परिपक्व समाज का निर्माण करना चाहते हैं।

आज भारत की राजनीतिक व्यवस्था इस द्वंद्व में उलझी हुई है कि वह किस दिशा में जाए दमन या स्वतंत्रता। यही कारण है कि प्रतिबंध बढ़ते जा रहे हैं, परंतु शराब और सेक्स जैसी प्रवृत्तियाँ भी बढ़ रही हैं। इसलिए हमने व्यवस्था-परिवर्तन के माध्यम से यह मार्ग चुना है कि इन दोनों विषयों को अनावश्यक कानूनी नियंत्रण से मुक्त किया जाए, ताकि समाज शिक्षा, जागरूकता और आत्मानुशासन के आधार पर इन पर स्वाभाविक नियंत्रण स्थापित कर सके। हम उस विचार के विरुद्ध हैं कि व्यक्ति सदैव नासमझ होता है और उसे सख़्त नियंत्रणों की आवश्यकता है। हमारा विश्वास है कि यदि व्यक्ति को निर्णय की स्वतंत्रता और पर्याप्त शिक्षा दी जाए तो वह समझदार, जिम्मेदार और संतुलित जीवन जी सकता है।

नेहरू, गोडसे और गांधी: एक तुलनात्मक दृष्टि

समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं
एक वे, जो दूसरों का मार्गदर्शन करते हैं; इन्हें मोटिवेटर कहा जाता है।
दूसरे वे, जो दूसरों की सलाह से चलते हैं और उनके प्रभाव में आकर कार्य करते हैं; इन्हें मोटिवेटेड कहा जाता है।
इसी प्रकार व्यक्ति के कार्य भी दो तरह के माने जाते हैं
पहले, जिनकी नीयत और कार्य दोनों गलत होते हैं।
दूसरे, जिनकी नीयत अच्छी होती है लेकिन कार्य गलत हो जाते हैं।
और तीसरे, जिनकी नीयत भी सही होती है और कार्य भी सही दिशा में होते हैं।

यदि हम नेहरू और गोडसे की तुलना करें, तो मेरे विचार से नेहरू पहले प्रकार में आते हैं, जिनकी नीयत और नीतियाँ स्वतंत्रता के बाद पूरी तरह गलत रहीं। गोडसे दूसरे प्रकार में आते हैं, जिसकी नीयत सही थी, लेकिन उसके कार्य गलत सिद्ध हुए। गांधी तीसरे प्रकार के व्यक्ति थे, जिनकी नीयत भी सही थी और कार्य भी। नेहरू एक मोटिवेटर थे दूसरों का मार्गदर्शन करने वाले। गोडसे मोटिवेटेड था दूसरों की सलाह और प्रभाव में चलने वाला। मेरा मानना है कि यदि गोडसे सावरकर से प्रभावित न होकर गांधी से प्रभावित हुआ होता, तो वह नेहरू की तुलना में एक बेहतर प्रधानमंत्री साबित हो सकता था। लेकिन गोडसे सावरकर के प्रभाव में रहा, और सावरकर स्वयं नेहरू, अंबेडकर, जिन्ना और लॉर्ड माउंटबेटन के प्रभाव में थे। इस प्रकार गोडसे जैसा देशभक्त अपनी राह स्वयं तय नहीं कर पाया, और उसका जीवन व्यर्थ हो गया।
इसीलिए मैं हमेशा यह सलाह देता हूँ कि व्यक्ति को अपनी नीयत और कार्य दोनों का निर्धारण स्वयं की समझ के आधार पर करना चाहिए। मेरे संस्थान के सभी लोग इसी कारण शरीफ़ी छोड़कर समझदारी अपनाने की सलाह देते हैं। जब व्यक्ति समझदार होता है, तो न वह किसी को गुरु बनाता है और न किसी को शिष्य; वह अपने निर्णय स्वयं लेता है। यदि गोडसे भी स्वयं निर्णय लेता, तो यह उसके लिए भी बेहतर होता और समाज के लिए भी।

आत्महत्या का प्रचार और समाज पर प्रभाव

आज फिर एक महिला डॉक्टर द्वारा आत्महत्या किए जाने की दुखद घटना सामने आई। पिछले समय की तुलना में आत्महत्याओं की संख्या और प्रतिशत दोनों लगातार बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। इस विषय पर गंभीरता से विचार करने पर मुझे तीन प्रमुख कारण समझ में आते हैं
1) व्यक्ति के स्वभाव में तेज़ी से हो रहा परिवर्तन,
2) राज्य में अनावश्यक कानूनों की बढ़ती संख्या,
3) आत्महत्याओं को अत्यधिक तरीके से हाईलाइट किया जाना।
ये तीनों कारण मिलकर आत्महत्या की प्रवृत्ति को और बढ़ा रहे हैं।

पहला कारण: व्यक्तित्व में बदलाव। जब से लोगों के स्वभाव में स्वार्थ, असहिष्णुता और हिंसात्मक प्रवृत्ति बढ़ी है, तभी से व्यक्ति भीतर से टूटने, असंतोष में घिरने और चरम निर्णय लेने की ओर अधिक बढ़ने लगा है। पहले कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन का सिद्धांत जीवन का आधार माना जाता था कि कर्म हमारा है, पर फल जैसा भी मिले, उसे समभाव से स्वीकार करना चाहिए। लेकिन बाद के दशकों में यह विचार फैल गया कि यदि परिणाम अपेक्षा के अनुसार न आएँ तो दोष व्यक्ति का नहीं बल्कि व्यवस्था का है, और उसके विरुद्ध आवाज़ उठानी चाहिए। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि व्यक्ति हर परिणाम से असंतुष्ट रहने लगा, और उसी असंतोष में कभी हिंसा की ओर, तो कभी आत्महत्या की ओर चला जाता है।

दूसरा कारण: वर्तमान कानूनों की जटिलता।

आज की कानूनी व्यवस्था में कई ऐसे प्रावधान हैं जिनका दुरुपयोग ब्लैकमेलिंग के रूप में होने लगा है। जब कोई व्यक्ति किसी आरोप में उलझ जाता है और उसे निकलने का कोई मार्ग नहीं दिखता, तब कभी-कभी वह अत्यधिक दबाव में आत्महत्या जैसा कदम उठा लेता है और साथ-साथ विरोधियों पर आरोप भी छोड़ जाता है। यह प्रवृत्ति भी आधुनिक समय में एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक हथियार बन गई है। हाल की घटना में जिस महिला डॉक्टर ने आत्महत्या की, उस पर भ्रष्टाचार के आरोप लगे थे, और उसके बाद उसने चरम कदम उठाकर गंभीर आरोप लगा दिए। ऐसी ही घटनाओं की श्रृंखला हम कुछ अन्य राज्यों में भी देख चुके हैं।

तीसरा कारण:आत्महत्या के मामलों का अत्यधिक प्रचार।

आत्महत्या जितनी अधिक चर्चाओं, मीडिया कवरेज और बहस का विषय बन रही है, उतनी ही यह एक नकारात्मक प्रेरणा का स्रोत भी बन जाती है। कई विशेषज्ञों का मानना है कि आत्महत्या को अनावश्यक रूप से हाईलाइट करने से ऐसी प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं।

मेरे विचार से, आत्महत्या की घटनाओं को अत्यधिक प्रचारित करने से बचना चाहिए और इस विषय पर समाज में अधिक संतुलित दृष्टिकोण विकसित करना चाहिए।

दिल्ली धमाका और वैश्विक प्रतिक्रियाएँ

दिल्ली में ब्लास्ट हुआ, जिसमें कुछ लोग मारे गए। दुनिया भर के कई देशों ने इस पर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं, लेकिन भारत में विपक्षी दलों के नेताओं ने लगभग चुप्पी साध रखी है। बिहार के विपक्ष के नेता तेजस्वी यादव चुनाव में व्यस्त हैं, इसलिए उनसे इस घटना पर प्रतिक्रिया की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अरविंद केजरीवाल ने केवल यह कहा कि यह घटना दुखद है और पुलिस विभाग को सक्रियता से जांच करनी चाहिए। राहुल गांधी और प्रियंका गांधी की तरफ से अब तक कोई बयान सामने नहीं आया है। कांग्रेस पार्टी के प्रवक्ता पवन खेड़ा ने कहा कि दिल्ली धमाका कई सवाल खड़े करता है। जब उनसे पूछा गया कि कौन से सवाल, तो उन्होंने उत्तर दिया कि सवाल तब बताए जाएंगे जब सरकार पहले कुछ बताएगी। मेरे विचार से राहुल गांधी अभी इस बात की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि एक-दो दिन बाद वे सरकार से प्रश्न पूछें। उनमें से कुछ संभावित प्रश्न हो सकते हैं

1. दिल्ली का धमाका चुनाव से केवल एक दिन पहले क्यों हुआ? बिहार में मतदान होने के एक दिन पहले दिल्ली में यह घटना क्यों हुई?
2. क्या सभी गिरफ्तार लोग मुसलमान हैं, और क्या इसमें किसी प्रकार का पक्षपात किया जा रहा है?
3. धमाके से दो घंटे पहले ही संभावित खतरे की जानकारी मिल जाने के बावजूद सरकार ने पर्याप्त सुरक्षा क्यों नहीं सुनिश्चित की?
4. जब दो दिन पहले उमर नामक अपराधी के बारे में जानकारी थी, तो उसे गिरफ्तार करने में इतनी देर क्यों हुई? यदि उमर गिरफ्तार हो जाता तो धमाका असफल हो सकता था।
5. जब यह स्पष्ट हो गया कि धमाका पाकिस्तान से संचालित किया जा रहा था, तो भारत ने पाकिस्तान पर अब तक कोई कार्रवाई क्यों नहीं की?

इसके अलावा और भी सवाल हैं, जो समय आने पर राहुल गांधी पूछ सकते हैं। क्योंकि राहुल गांधी के लिए प्रश्न पूछना सहज है, लेकिन उत्तर देना उनकी आदत में नहीं है।

विकास, हिंसा और पर्यावरण की प्राथमिकता

मेरा मानना है कि पर्यावरण की तुलना में विकास, और विकास की तुलना में हिंसा पर नियंत्रण अधिक महत्वपूर्ण है। आज पर्यावरण की अत्यधिक चिंता करने वाले अधिकांश लोग समाधान कम और अपनी दुकानदारी अधिक चला रहे हैं। उदाहरण के लिए, हमारे सरगुजा क्षेत्र में जंगल बहुत अधिक हैं, आबादी कम है और पर्यावरण स्वाभाविक रूप से बेहतर है। इसके बावजूद, जब भी विकास की कोई चर्चा होती है, पेशेवर पर्यावरणवादी उसमें व्यवधान डाल देते हैं। यही कारण है कि हमारे क्षेत्र में पर्यावरणवादियों और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं के प्रति आम लोगों में नाराज़गी बढ़ी है।

पर्यावरण को सबसे अधिक नुकसान रूस, हमास और इज़राइल जैसे देशों व संगठनों के बीच चल रहे युद्ध से हो रहा है, लेकिन हमारे तथाकथित पर्यावरणवादी सरगुजा में पर्यावरण बचाने की चिंता में लगे रहते हैं। दिल्ली गंभीर पर्यावरण प्रदूषण से जूझ रही है, और विकास के नाम पर वहां लगातार आबादी बढ़ती जा रही है। मुझे आश्चर्य होता है कि एक तरफ पर्यावरण को लेकर शोर शराबा हो रहा है, और दूसरी तरफ आबादी में लगातार वृद्धि हो रही है। यह स्वयं स्पष्ट है कि जब तक दिल्ली की आबादी नियंत्रित नहीं होगी और गाड़ियों से निकलने वाले धुएँ पर कड़ा नियंत्रण नहीं लगेगा, तब तक पर्यावरण सुधार संभव नहीं है। लेकिन आबादी भी बढ़ रही है, गाड़ियाँ भी, जबकि पर्यावरण के नाम पर केवल दिखावा किया जा रहा है। दिल्ली का पर्यावरण सुधारने का एकमात्र समाधान यह है कि वहाँ डीज़ल, पेट्रोल और बिजली को महँगा किया जाए तभी आवागमन कम होगा, आबादी का दबाव घटेगा, और पर्यावरण स्वयं सुधरेगा। मैं देशभर के पर्यावरणवादियों से निवेदन करना चाहता हूँ कि विकास के मार्ग में बाधक न बनें, पर्यावरण के नाम पर दुकानदारी बंद करें और हिंसा व युद्ध के विरुद्ध वातावरण बनाने की दिशा में कार्य करें।

ज़ूम "चर्चा कार्यक्रम" से

लोकतंत्र और साम्यवाद की बात जब हम करते हैं तब पाते हैं कि लोकतंत्र एक शासन पद्धति है जबकि साम्यवाद एक विचारधारा। लोकतंत्र में जहां मौलिक अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का महत्व होता है वहीं साम्यवाद सिद्धांत रूप से इनकी बात तो करता है परंतु व्यवहार में उनकी अवहेलना करता है। यह बात विचारणीय है कि साम्यवाद जब सत्ता से बाहर रहते हैं तब लोकतांत्रिक मूल्यों की बात करते हैं लेकिन जब सत्ता में आते हैं तब इन्हीं मूल्यों का गला घोट देते हैं। चीन और रूस जैसे साम्यवादी देश अपनी शासन व्यवस्था में लोकतंत्र से दूरी बनाते हैं परंतु बाहर के देशों में अधिकतम लोकतंत्र की मांग करते हैं। साम्यवाद वर्ग संघर्ष की बुनियाद पर अपने अस्तित्व का निर्माण करता है। समाज के विभिन्न वर्गों के बीच कटुता और वह वह वैमनस्य फैलाकर अपनी रोटियां सेकता है। नक्सलवाद इसी वर्ग संघर्ष का हिंसक रूप है। यह बात ध्यान देने वाली है कि नक्सलवाद वामपंथ का ही एक हिंसक रूप है। राजनीतिक रूप से हम देख रहे हैं कि वामपंथियों का लगातार पतन हो रहा है। आज विश्व के अधिकांश देशो में दक्षिणपंथी सरकारे बन रही हैं। इसके पीछे का कारण वामपंथियों की लगातार उजागर हो रहा ढोंग है।

विषयः भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियां

सामाजिक कुरीतियों पर चर्चा के लिए दो दिनों का विशेष सत्र आयोजित किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य इस बात पर विचार मंथन करना था कि जिन सामाजिक कुरीतियो की बात की जाती है उनकी वास्तव में सच्चाई क्या है? कहीं ऐसा तो नहीं कि किसी विशेष षड्यंत्र के तहत इन बातों को बढ़ा चढ़ा कर या तोड़ मरोड़ कर पेश किया जाता है। चर्चा के अंतर्गत सती प्रथा, देवदासी प्रथा, भ्रूण हत्या, शिशु बालिका ह्त्या, बाल विवाह, पर्दा प्रथा जैसे विषयों पर बात की गई। इसके बाद जाति प्रथा पर वर्तमान संदर्भ में बात की गई। हाल में घटित कुछ घटनाओं को लेकर विचार मंथन किया गया। चर्चा की अंतिम भाग में ऐतिहासिक और धार्मिक संदर्भ पर बात की गई। चर्चा के दूसरे दिन सवाल जवाब का दौर चला। हमारे मार्गदर्शक बजरंग मुनि जी ने इन समस्याओं के पीछे तत्कालीन समाज में स्त्रियों की संख्या का अधिक होना बताया। उन्होंने आगे कहा कि समाज की परिस्थितियों के कारण यह समस्या आई न कि जानबूझकर ऐसा किया गया।

वर्तमान समय में शासन के कई रूप हैं जिनमे लोकतंत्र, धर्मतंत्र और तानाशाही प्रमुख हैं। यह देखा गया है कि तानाशाही और धर्म तंत्र में अव्यवस्था नहीं होती। यदि लोकतंत्र जीवन पद्धति से हटकर शासन पद्धति की ओर बढ़ता है, तो अव्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। लोकतंत्र एक जीवन पद्धति है न कि शासन पद्धति। दुर्भाग्य है कि आज के समय में लोकतंत्र शासन पद्धति बनकर रह गया है। इसका परिणाम यह है कि अव्यवस्था फैल गई है। अगर अव्यवस्था लंबे समय तक कम रहती है तो निश्चित रूप से तानाशाही का जन्म होगा। हमें लोकतांत्रिक जीवन पद्धति की ओर बढ़ना चाहिए। गांधी इसी काम में लगे हुए थे। यूरोप में लोकतंत्र उनके जीवन पद्धति उत्पन्न हुआ है जिसके कारण यह व्यवस्था उनके लिए फायदेमंद है। दुर्भाग्य से भारत ने यूरोपीय लोकतंत्र को अपनाया जो मात्र एक शासन पद्धति है। इसका दुष्परिणाम हम सभी देख रहे हैं।

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को राजनीतिक दल किसी भी तरह बनाकर रखना चाहते हैं। इसके लिए संविधान का सहारा लिया जाता है। संविधान की आड़ में हमारे राजनेता समाज पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते हैं। जब भी समाज के द्वारा अपने अधिकारों की मांग की जाती है तब इसी संविधान की दुहाई दी जाती है। दूसरी और नक्सलवादी अपना संविधान लागू करना चाहते हैं। वे इस लोकतंत्र को उखाड़ कर अपनी शासन व्यवस्था लाना चाहते हैं। आजादी के बाद से संविधान समाज को गुलाम बनाकर रखने का साधन बन गया है। एक बात विचारणीय है कि क्या हमारे देश में स्वराज है? जिस संविधान का हम रात-दिन ढोल पीटते हैं क्या इसके निर्माण में भारतीय समाज की कोई भूमिका है? सही मायने में स्वराज हमसे आजादी के बाद छिन गया। आज भारतीय शासक अपने हितों की पूर्ति के लिए मनमाना कानून बना रहे हैं।

हमारे देश में जनप्रतिनिधि ढोंग करते हैं कि हम संविधान के अनुसार कार्य करते हैं। वे हमेशा रटते रहते हैं कि संविधान हमारे लिए गीता की तरह है। मगर अफसोस इस बात का है कि उसी संविधान में परिवर्तन या संशोधन अपने हितों की पूर्ति के लिए किया जाता है। आजादी से लेकर 1973 तक हमारे देश में संसदीय तानाशाही का दौर चला। 1973 ईस्वी में केशवानंद भारती वाद में न्यायपालिका ने अहम निर्णय दिया जो मील का पत्थर साबित हुआ। बाद के कुछ वर्षों मे जनहित याचिका का दौर चला जिसके फलस्वरुप न्यायिक तानाशाही की स्थापना हुई। दरअसल हमारे यहां का संसदीय लोकतंत्र हमारी मिट्टी की उपज नहीं है। दूसरे शब्दों में यहां की संस्कृति, सभ्यता और समाज से इस लोकतंत्र का कोई संबंध नहीं है। ब्रिटेन से हमने इस शासन पद्धति को आयात किया है। लोकस्वराज में अपने जनप्रतिनिधियों को वापस बुलाने की व्यवस्था रहेगी। हम शक्ति को आम

व्यक्ति से ऊपर तक लाने की व्यवस्था करेंगे। चर्चा के दौरान हमारे मार्गदर्शक बजरंग मुनि जी ने रामराज्य और लोकस्वराज में अंतर बताया। उनके अनुसार रामराज्य में न्याय और सुरक्षा के साथ-साथ जनता को सुविधा भी मिलेगी। दूसरी और लोक स्वराज में राज्य का कार्य केवल सुरक्षा और न्याय देना है। सुविधा देने का कार्य समाज के ऊपर रहेगा। अपराध को रोकने में कानून और राज्य से ज्यादा कारगर समाज हो सकता है। समाज या परिवार किसी व्यक्ति पर जितने प्रभावी ढंग से दबाव बना सकता है राज्य नहीं कर सकता। पुराने समय में अनैतिक या असामाजिक और अपराध करने वालो को समाज के द्वारा बहिष्कृत कर दिया जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि लोग गलत कार्य करने से बचते थे। वर्तमान समय में न्यायपालिका ऐसा करने में असमर्थ रही है। अपराध नियंत्रण और सुरक्षा में राज्य अप्रभावी रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि पुरानी व्यवस्था को फिर से वापस लाया जाए।

खाप पंचायत ऐसे ही एक व्यवस्था रही जिसने सामाजिक स्तर पर व्यवस्था बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उत्तर भारत के ग्रामीण हिस्सों में खाप पंचायत ने सामाजिक, सांस्कृतिक और सामरिक रूप से अग्रणी भूमिका निभाई है। अगर इतिहास की बात करें तो हम पाते हैं कि हर्षवर्धन ने खाप पंचायत का गठन किया था। इस्लामी शासन में इस संगठन ने हिंदू समाज की रक्षा में अप्रतिम योगदान दिया। 14वीं शताब्दी में जब तैमूर लंग दिल्ली को जीतता हुआ पश्चिम उत्तर प्रदेश पहुंचा तब इसी खाप पंचायत ने उससे लोहा लिया। कहा जाता है कि खाप पंचायत के प्रतिरोध स्वरूप आक्रांताओं को वापस लौटना पड़ा। इसी तरह इतिहास में और भी कई उदाहरण है। आजादी के बाद राज्य ने आधुनिकता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और कानून के शासन की आड़ में इन संस्थानों पर नकेल कसना शुरू किया। इसका शिकार खाप पंचायते भी हुई। सुनियोजित तरीके से दुष्प्रचार के माध्यम से खाप पंचायत को बदनाम किया गया। इसे महिला विरोधी, दकियानूसी और पिछड़ा कहा गया। यह हो सकता है कि इन पंचायतो ने कुछ ऐसे कार्य किए हो जो सही नहीं हो लेकिन फिर भी पूरी व्यवस्था को सवाल के घेरे में खड़ा करना कहां तक उचित है! सरकार और समाज को व्यवस्था के निर्माण और संचालन में एक दूसरे का सहयोगी होना चाहिए ना कि एक दूसरे की टांग खींचने वाला। वर्तमान समय में दुर्भाग्य से ऐसा ही दिखता है। जस्टिस वर्मा आयोग ने खाप पंचायत पर अपनी रिपोर्ट में जिस तरह से उसकेप्रति नकारात्मक टिप्पणी की है काफी चिंतनीय है। जस्टिस वर्मा आयोग ने खाप पंचायत की सकारात्मक बातों का बिल्कुल भी ध्यान नहीं रखा। यह ध्यान देने वाली बात है कि इस तरह के आयोग भी सरकार के साथ मिलकर समाज को खत्म करने में लगे हुए हैं। आजादी के बाद से हमारी राजनीतिक व्यवस्था समस्याओं के समाधान का दावा करती रही है। इस देश का हर राजनीतिक दल सत्ता में आने पर समस्याओं के समाधान पर अपनी पीठ थपथपाता है। अगर गहराई से देखा जाए तो हम पाते हैं कि राजनेता समस्याओं का समाधान नहीं करते बल्कि दिखावा करते हैं। उदाहरण के लिए हमारी सरकार दावा करती है कि हमने बेरोजगारी की समस्या हल कर दी। अगर देखा जाए तो हम पाते हैं कि रोजगार चंद लोगों को ही मिल पाता है। आबादी का एक बड़ा हिस्सा रोजगार से वंचित ही रहता है। यही हाल न्यायपालिका का भी है। हमारी न्यायिक व्यवस्था में वर्तमान में करोड़ मुकदमे लंबित हैं। सरकार कुछ मुकदमों में तेजी से फैसला सुनाकर यह दावा करती है कि हमने त्वरित न्याय किया है। आरक्षण के मामले में भी ऐसा ही है। आरक्षण का फायदा चंद लोगों को मिलता है जबकि सरकार दावा करती है कि हमने सामाजिक न्याय कायम किया है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि राजव्यवस्था अपने हित में शासन का संचालन करती है। दरअसल समस्याओं का समाधान होता नहीं है केवल दिखता है। हमारे मार्गदर्शक बजरंग मुनि जी ने भी इन्हीं बातों की ओर सबका ध्यान खींचा। भारत सरकार ने दल-बदल कानून का निर्माण 1985 में राजीव गांधी के नेतृत्व में किया। इस कानून के तहत दल बदलने पर कई तरह के प्रतिबंध लगा दिए गए। यह कानून लोकतंत्र और समाज के साथ धोखा है। दलीय अनुशासन तोड़ने पर संसद की सदस्यता छोड़ने पड़ेगी। इस कानून के कारण जनप्रतिनिधियों की स्थिति भेड़-बकरी के समान हो गई है। वे अपने दल के गुलाम बनकर रह गए हैं। यह बात जग जाहिर है कि राजनेता समस्याएं पैदा करने में माहिर है। समस्या का समाधान इस प्रकार से होता है कि उससे नई समस्या उत्पन्न हो। वर्तमान समय में ऐसा माहौल बनाकर रखा गया है कि समस्या के समाधान के लिए किसी निष्कर्ष तक पहुंचा ही ना जा सके। जब तक राजनेताओं पर समाज का अंकुश नहीं होगा तब तक वर्ग संघर्ष और नियंत्रण संभव नहीं है। भारतीय राजनेताओं और पाश्चात्य राजनेताओं में एक बहुत बड़ा अंतर है कि पश्चिमी देशों की राजनेता बहुत सोच समझकर कानून का निर्माण करते हैं जबकि भारतीय राजनेता बिना सोचे समझे कानून बनाते हैं। हमारे यहां सबसे बड़ी विडंबना यह है कि हमारे यहां हर समस्या का समाधान प्रशासनिक या कानूनी तरीके से किया जाता है चाहे समस्या का स्वरूप कुछ भी हो। भ्रूण हत्या जैसी सामाजिक समस्या का समाधान भी प्रशासनिक या कानूनी तरीके से किया जा रहा है जो कि अत्यंत हास्यास्पद है। आज भारत के आम जनता में यह बात घर कर गई है कि देश का हर राजनेता भ्रष्ट है। इस भ्रष्टाचार को रोकने में हमारी संसदीय प्रणाली असफल सिद्ध हो रही है।

साथियों की कलम से-

ज्ञानेन्द्र आर्य: यायावर चेतना का साधक- नरेंद्र सिंह

जीवन यात्रा में अनेक साथी, अनेक घटनाओं, अनेक परिस्थितियों से आदमी का साबका होता है, या यूँ कहें कि इन्हीं दशाओं का मूर्त रूप जीवन को प्रमाण के रूप में व्यक्त करता है। क्योंकि इन्हीं के माध्यम से मनुष्य सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद और संघर्ष-संतोष की अनुभूति करता है। मनुष्य का व्यक्तित्व इन अनुभवों का ही संचय है, जो कभी स्मृति बनकर दिशा देता है और कभी दर्शन बनकर विचार को आकार देता है। मैं प्रकृति के महान विस्तार को जितना-भर समझ पाया हूँ, उसमें मुझे हर भौतिक अस्तित्व एक यायावर की भाँति प्रतीत हुआ है। कुछ भी स्थिर नहीं, न पर्वत, न नदी, न मानव जीवन! सब कुछ गतिशील है, सब कुछ प्रवाहित है। जीवन के लिए किसी संग्रह का कोई स्थायी परिणाम नहीं; सब सृजित होता है, परन्तु समय के बहाव में वह सब कुछ यूँ विसृजित हो जाता है कि जैसे उसका सृजन हुआ ही न हो! यह प्रकृति की ही अद्भुत और रहस्यमयी सृजन शैली है, जिसमें हर वस्तु, हर प्राणी, हर ऊर्जा का अपना नियत स्थान और प्रयोजन है। प्रकृति ने अपने समग्र अस्तित्व को एक ऐसे सन्तुलन में रखा है कि उसकी प्रत्येक इकाई, चाहे वह पर्वत हो या सागर, तारा हो या जीव; सभी निर्वाह के भागीदार तो हैं पर असन्तुलन का कारण नहीं। यह दृष्टव्य हमें यह सिखाता है कि यदि मनुष्य की चेतना भी ऐसी ही सन्तुलित हो तो उसका बौद्धिक और नैतिक मानक कितना तार्किक और आकर्षक होता! इन्हीं विचारों के बीच एक प्रश्न बार-बार उठता है कि ऐसे विमर्श का सहचर कौन हो? क्योंकि विमर्श तभी फलदायी होता है जब उसमें द्वन्द का भी अस्तित्व हो, अर्थात विचार का प्रतिविचार हो, दृष्टि का प्रतिदृष्टि से सामना हो। अथवा यह अभाव विचार को एकांत में बाँध देता है।

मुझे कुछ वर्ष पूर्व ऐसे ही एक अवसर पर, आदरणीय बजरंग मुनि जी के आश्रम में एक ऐसा यायावर मिला जो अपने विचारों, अपने कर्म और अपने मौन से भी संवाद करता था। प्रारम्भ में मैंने उसे परखने की चेष्टा की कि क्या वह आत्म-प्रशंसक है? क्या वह विभिन्न विषयों पर पूर्व में की गयी विवेचनाओं का अध्ययन करता है? क्या वह प्रश्नों में सभ्यता की मर्यादा तो नही लांघता? धीरे-धीरे समझ में आया कि यह व्यक्ति न केवल विचारशील है, बल्कि संयमी और कर्मशील भी है। ....इनका नाम ज्ञानेन्द्र आर्य है। इन्होंने भौतिक थाती को उतना ही गले लगाया जितना कि जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक है। इनसे व्यवहार में आने पर मैने समझा कि इन्होंने संग्रह को सफलता का प्रतीक न कहने का साहस किया है! क्योंकि मैने समझा कि जिस व्यापारिक गतिविधि को जीवन भर अंजाम देकर यह बहुतसा धन संग्रह कर सकते थे, मानव अस्तित्व की गरिमा बनाये रखने के लिए इन्होंने उसे भी अपनी सफलता की कसौटी नही बनाया। मैंने इन्हें 'यायावर' इसलिए कहा कि भौतिक सफलता इन्हें 'जड़' न बना सकी। जीवन के व्यवहारिक पक्ष में इनकी सफलता उतनी ही है, जितनी जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होती है। परन्तु इन सबके बीच इन्होंने संग्रह को सफलता का प्रतीक मानने से इंकार किया और यही इनकी वैचारिक गरिमा का प्रमाण है। आपका जन्म उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर जनपद के एक साधारण व्यापारी परिवार में हुआ। आप सात भाई-बहनों में सबसे छोटे हैं। बचपन से ही आपके भीतर सामाजिकता और संगठन की भावना रही। यही कारण रहा कि आप अपने जीवन में केवल व्यवसाय तक सीमित नहीं रहे, बल्कि समाज और राष्ट्र की चेतना के वाहक बन गए। आपने अपने कर्मपथ पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, आर्य समाज, गायत्री परिवार, और बाबा रामदेव के भारत स्वाभिमान न्यास जैसी प्रतिष्ठित संस्थाओं के साथ सक्रिय रूप से कार्य किया। यह आपकी विचारशीलता का ही परिचायक है कि आपने किसी एक विचारधारा में स्वयं को सीमित नहीं किया, बल्कि हर उस धारा से जुड़ने का साहस किया जो राष्ट्र, समाज और व्यक्ति की आत्मिक उन्नति का संदेश देती है।

ज्ञानेन्द्र आर्य का जीवन इस तथ्य का साक्ष्य है कि सफलता का अर्थ केवल उपलब्धि नहीं, बल्कि सन्तुलन और सजगता भी है। इन्होंने यह दिखाया कि व्यक्ति यदि अपने विचारों में स्पष्ट और अपने कर्म में विनम्र हो, तो वह समाज के हर वर्ग के लिए प्रेरणा बन सकता है। आज जब संसार संग्रह, प्रतिस्पर्धा और प्रदर्शन की दौड़ में उलझा हुआ है तब ज्ञानेन्द्र आर्य जैसे लोग हमें यह याद दिलाते हैं कि जीवन का सार, संग्रह में नहीं, संयोग में है; सफलता का अर्थ भौतिक ऊँचाई नहीं, आत्मिक गहराई है।

संविधान सभा -ज्ञानेन्द्र आर्य

भारत की शासन व्यवस्था संविधान से संचालित होती है। विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका के रूप में विभाजित पूरी लोकतांत्रिक प्रणाली को चलाने के नियम और सिद्धांत संविधान से ही प्राप्त होते हैं। समय के साथ परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं. इसलिए कोई भी व्यवस्था स्थायी नहीं कही जा सकती. इसी कारण संविधान में संशोधन की व्यवस्था भी रखी गई है।

स्वाभाविक रूप से संविधान संशोधन की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए थी जिसमें सभी नागरिकों की सामूहिक भागीदारी सुनिश्चित हो, और इसके लिए एक स्वतंत्र एवं स्थाई संविधान सभा जैसी संस्था हो. लेकिन ऐसा नहीं है. जिस इकाई को संविधान ने सत्ता सौंपी, वही इकाई संविधान संशोधन का अधिकार भी अपने पास रखती है। यह स्थिति

आश्चर्यजनक और दुर्भाग्यपूर्ण है कि जनता द्वारा संचालित होने वाली सत्ता ही जनता की सहमति से बने संविधान को कभी भी संशोधित कर सकती है।

संविधान संशोधन के इतिहास पर नज़र डालें तो यह स्पष्ट दिखता है कि कई संशोधनों ने लोकतांत्रिक मूल्यों को मजबूत करने के बजाय उन्हें कमजोर किया. कई बार ऐसे संशोधन भी हुए जिनमें जनता की राय न ली गई और न ही व्यापक सार्वजनिक विमर्श हुआ। ऐसे संशोधन व्यवस्था में भ्रम और असंतुलन पैदा करते हैं। संविधान संशोधन में जन-भागीदारी की आवश्यकता लोकतांत्रिक देश में संविधान जनता की स्वीकृति और विश्वास पर ही टिका होता है. इसलिए आवश्यक है कि संविधान संशोधन की प्रक्रिया अधिक पारदर्शी और जन- सम्मत हो। इसके लिए:

संविधान संशोधन पर जनमत संग्रह (रेफ़रेंडम) की व्यवस्था हो जनता, नागरिक समाज और विशेषज्ञों की राय सुनने के लिए खुली राष्ट्रीय समितियाँ बनें

सोशल मीडिया और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म पर सार्वजनिक विमर्श को संस्थागत रूप दिया जाए

संविधान समीक्षा के लिए एक स्थाई और स्वतंत्र संविधान सभा जैसी संस्था गठित की जाए

संशोधन प्रक्रिया को सरकार की इच्छा पर नहीं, जन-समर्थन और विचार-मंथन पर आधारित किया जाए

जब तक जनता संविधान संशोधन में सक्रिय भागीदार नहीं बनती, तब तक लोकतंत्र का वास्तविक स्वरूप अधूरा रहेगा। संविधान जनता का है, इसलिए उसका संरक्षण और विकास भी जनता के हाथ में ही होना चाहिए।

गतांग से आगे...

जीवन पथ

मूलतः यह कोई सिद्धान्त नहीं है जोकि समाज की गलत राजनीतिक अवधारणा के कारण विकसित हुआ है। समानता के विषय में सोचा जाए तो यह बहुत भ्रामक शब्द है। हम भौतिक जीवन में यह निर्णय बहुत सरलता से कर सकते हैं कि जब दो व्यक्तियों की कार्यक्षमता समान नहीं होती है तो उन्हें अवसर और सुविधाओं में समानता कैसे प्राप्त हो सकती है? लेकिन यह तर्क भी हमारे सामने होता है कि कई बार कम योग्य व्यक्ति अधिक लाभकारी अवसर को कबजाये रहता है और अधिक योग्य बेकारी की अवस्था में रहता है। मूलतः समानता छदम मानवतावादियों की इस इच्छा को कभी पूरी नहीं करा सकती है। क्योंकि अपने ही अस्तित्व की रक्षा के लिए तो ऐसे लोग सदैव ये दोनों बाते जीवित रखते है। यह स्थिति व्यवस्था के गलत प्रारूप के कारण बलवती रहती है। क्योंकि छदम मानवतावादी गलत व्यवस्था का ही निहित स्वार्थ के लिए प्रयोग करते हैं। मुझसे समानता के मूल अर्थ के विषय में यदि पूछा जाएगा तो मैं केवल इतना कहुँगा कि गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर व्यक्ति की प्रतिष्ठा के विषय के अतिरिक्त समाज में और कुछ भी समान रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता है। लेकिन प्रतिष्ठा शब्द को परिभाषित किया जाना बहुत आवश्यक है। इस शब्द के गुण-दोष को भली-भाँति विश्लेषित किया जाना चाहिए। ....वह क्षण भर के लिए चुप होकर पुनः बोलता है - समाज में आर्थिक असमानता के दुष्प्रभाव का विस्तार, व्यवस्था के इस गलत प्रबन्धन के कारण हुआ है कि व्यवस्था (सरकार) ने अर्थ के महत्व को जीवन से अधिक श्रेयष्कर मान लिया है। आधुनिक युग में अर्थ के सामने समाज गौण हो चुका है। इस स्थिति में क्या आर्थिक असमानता का उन्मूलन समाज में उपस्थित पूँजी और उसके उत्पादक साधनों का, लोगों में समान वितरण करके किया जा सकता है! नहीं, यह इस समस्या के समाधान का ढंग नहीं हो सकता है! क्योंकि यह समस्या तो राज्य और बाजार के हितों के एकाकार होने से इतनी बलवती हुई है। ऐसा होने पर समाज नेपथ्य में चला जाता है और पूँजी तथा उसका महिमामण्डन करने वाला वर्ग, समाज का अघोषित शासक सिद्ध होता है। इस स्थिति में व्यक्ति की कार्य करने की परस्पर प्रतिस्पर्धा पूँजी का केन्द्रीयकृत निवेश करने की होड में फंस जाती है। तब व्यक्ति आचरण की सभ्यता की सीमा लांघता है और पूरा का पूरा सामाजिक ढाँचा व्यवस्थागत भ्रष्टाचार और अवसरवाद की भेंट चढ जाता है। समाज को यूँ गुमराह करने का बाजार की इच्छा से रचा जाने वाला यह षडयन्त्र राज्य का संरक्षण पाकर फलता-फूलता है। इसका प्रभाव आज हम जीवन के किसी भी सार्वजनिक आयाम पर सरलता से देख सकते हैं, चाहे वह भक्ति का बाबा बाजार हो, राजनीति और समाज सेवा का व्यापार हो, श्रम की लूट हो, अर्थात यह जीवन पर पूँजी के अति संग्रहकर्ताओं तथा शक्ति का दुरूपयोग करने वाले राजनेताओं का खुला षडयन्त्र है। समाज में उपस्थित आर्थिक असमानता व्यवस्था (राज्य) के गलत प्रबन्धन की देन है। इस समस्या के उन्मूलन का सरलतम ढंग सामाजिक जीवन में पूँजीवाद के प्रभाव को समाज केन्द्रित राज्य व्यवस्था में गौण कर देना है। मूलतः पूँजी, समाज की आर्थिक व्यवस्था का साधन है। इसका और इसके उत्पादक संसाधनों का किसी के भी पक्ष में केन्द्रीयकरण नहीं होना चाहिए। यदि राज्य ऐसा करे या सामाजिक व्यवस्था के किसी प्रकार (बाजार) को स्वयं राज्य ही ऐसा करने की छूट दे तो समाज को स्वयं

इस सामाजिक समस्या का सामाजिक उन्मूलन करना चाहिए। इसके प्राथमिक उपाय के रूप में समाज को वस्तु-विनिमय के नियम को व्यवस्थागत नियम के रूप में स्वीकार करना चाहिए। समाज द्वारा वस्तु-विनिमय के नियम की स्वीकृति जीवन पर बाजार के प्रभाव को घटाएगी। .....ऐसे अन्य उदाहरण भी समाज मे मौजूद हैं जिनका विस्तार से जिक्र किया जा सकता है अलबत्ता ये समस्याएं केवल उन्हीं चार षडयन्त्रकारियों की देन है और कुछ नहीं।

लेकिन यह सब एक दम से समाज मे स्थापित नहीं हुआ है! यदि यह एक दम से स्थापित हुआ होता आदित्य तो मैं इसे घटना कहता, मैन तो इसे षडयन्त्र कहा है। यह समाज के विरूद्ध राजनीति का वह षडयन्त्र है जिसे बल, बुद्धि और अर्थ का नीतिहीन संरक्षण प्राप्त है। यदि इसे व्यक्तियों की जाति के नाम से जानना है तो मैने उनका नाम पूर्व में लिया है। ....विवेक इतना कहकर अपनी बात को विराम देता है लेकिन पथभ्रष्ट आतताईयों का दमन करने से भी स्वतन्त्रता की चिर सुरक्षा कभी नहीं हो सकेगी।

...आदित्य कुछ सोचते हुए उससे कहता है- तेरी बातें बहुत अजीब तरह की हैं विवेक। इन्हें स्वीकार किया जाए तो कैसे और ठुकरा दिया जाए तो क्यों? लेकिन समाज को अपनी स्थिति का चिन्तन तो करना चाहिए। आखिर इस झूठ का पर्दाफाश कौन करेगा कि दुनिया भर के विभिन्न देशों में रहने वाला समाज कुछ मक्कार व्यक्तियों का योजनाबद्ध ढंग से गुलाम है और हमारे जैसे लोग स्वतन्त्रता की सुरक्षा के नाम पर मरते रहते हैं। क्या दुनिया की व्यवस्था को ऐसे लोगों का, जो मानवता की स्वतन्त्रता का हनन करने के पक्षधर हैं उनका एक जुट होकर दमन नहीं करना चाहिए?